विवेक शिखा

श्री रामकृष्ण-विवेकानन्द भाव-धारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—१६ | फरवरी—१९९७ | अंक—२

रामकृष्ण निलयम्, जयप्रकाश नगर, छपरा (बिहार)

विवेक शिखा के आजीवन सदस्य

१५५. श्री विजय कुमार मल्लिक—मुजफ्फरपुर
१५६. श्रीमती गिरिजा देवी—बखरिया (बिहार)
१५७. श्री अशोक कौशिक-मालवीय नगर, (नई दिल्ली)
१५८. रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ—देवघर (बिहार)
१५९. श्री रामकृष्ण साधना कुटीर, खण्डवा (म० प्र०)
१६०. श्रीमती आभा रानाडे, अहमदाबाद (म० प्र०)
१६१. श्री डी० एन० थानवी, जोधपुर (राजस्थान)
१६२. श्री सोहन लाल यादव, नाहर कटिया (आ०)
१६३ डा० (श्रीमती) रेखा अग्रवाल, शाहजहाँपुर (उ प्र.)
१६४. डॉ० (श्रीमती) सुनीला मल्लिक—नई दिल्ली
१६५. श्रीरामकृष्ण संस्कृतिपीठ, कामठी (नागपुर)
१६६. कुमारी जसवीर कौर आहूजा, पटियाला, पंजाब
१६७. श्रीमती मंजुला बोदिया, उदयपुर (राजस्थान)
१६८. श्रीमती सुदेश, अम्बाला शहर (हरयाणा)
१६९. डॉ० अजय खन्ना (बरेली उ० प्र०)
१७०. श्री एम० टी पुराणिक—नागपुर
१७१. श्री धन्नालाल अमृतलाल मोलकी, कलवानी
१७२. डॉ० कमलाकांत, बड़ोदा (गुजरात)
१७३. डॉ० विनया पेण्डसे, उदयपुर (राजस्थान)
१७४. सन्तोष बोनी, रामबन (जम्मू एवं कश्मीर)
१७५. श्री राजोभाई बी० पटेल, सूरत (गुजरात)
१७६. श्री प्रकाश देवपुरा—उदयपुर (राजस्थान)
१७७. श्री एम० के० मुन्दरा, जामनगर (गुजरात)
१७८. डॉ० मोहन बन्सल, आनन्द (गुजरात)
१७९. अडकिया कन्सलटेन्ट्स, प्रालि० मुम्बई
१८०. सुश्री एस० पी० त्रिवेदी—रोजकोट (गुजरात)
१८१. अद्वैत आश्रम, मायावती—(उ० प्र०)
१८२. श्री शत्रुघ्न शर्मा, फतेहाबाद—(बिहार)
१८३. रामकृष्ण मिशन, शिलांग—(मेघालय)
१८४. श्री त्रिभुवन महतो, राँची—(बिहार)

इस अंक में

		पृष्ठ
१. श्रीरामकृष्ण देव ने कहा है		१
२. वन्दना		२
३. महानायक को नमन्	(सम्पादकीय सम्बोधन)	३
४. अग्नि वीणा	स्वामी विवेकानन्द	८
५. स्वामी विवेकानन्द	स्वामी अध्यात्मानन्द	९
६. स्वामी अद्भुतानन्द	डॉ० ओंकार मेक्सेना	११
७. आप अपने स्वयं भाग्य विधाता हैं	डॉ० किरण वेदी	१३
८. स्वामी अखण्डानन्द जी महाराज	स्वामी अकासानन्द	१५
९. स्वामी विवेकानन्द की स्मृतियाँ	स्वामी सदाशिवानन्द	१९
१०. तिलक और विवेकानन्द के सम्बन्ध	डॉ० विश्वनाथ प्र० वर्मा	२३
११. विवेक चुड़ामणि	स्वामी वेदान्तानन्द	२५

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत
उठो जागो और लक्ष्य प्राप्य किये बिना विश्राम मत लो।

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—१६ फरवरी—१९९७ अंक-२

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल 'विवेक शिखा'॥

सम्पादक :
डॉ० केदारनाथ लाभ
सहायक सम्पादक :
शिशिर कुमार मल्लिक

सम्पादकीय कार्यालय :
विवेक शिखा
रामकृष्ण निलयम्
जयप्रकाश नगर
छपरा—८४१३०१
(बिहार)
फोन : ०६१५२-२२६३९

सहयोग राशि :

आजीवन सदस्य—	५०० रु०
वार्षिक—	४० रु०
रजिस्टर्ड डाक से—	५५ रु०
एक प्रति—	४ रु०

रचनाएँ एवं सहयोग-राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें।

श्रीरामकृष्ण ने कहा है

(१)

पानी और बुलबुला वस्तुतः एक ही हैं। बुलबुला पानी में ही उत्पन्न होता है, पानी में ही रहता है और अन्त में पानी में ही समा जाता है। उसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा वस्तुतः एक ही हैं। उनमें अन्तर केवल उपाधि के तारतम्य का है—एक सान्त-सीमित है तो दूसरा अनन्त-असीम, एक आश्रित है तो दूसरा स्वतन्त्र।

(२)

दुर्जन व्यक्ति का मन घुँघराले बाल की तरह होता है। जिस प्रकार कितनी भी कोशिश करो पर घुँघराले बाल को सीधा नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार दुर्जन व्यक्ति के मन को प्रयत्न करने पर भी सरल, शुद्ध नहीं किया जा सकता।

(३)

तुम संसार में रहकर गृहस्थी चला रहे हो इसमें हानि नहीं परन्तु तुम्हें अपना मन ईश्वर की ओर रखना चाहिए। एक हाथ से कर्म करो, और दूसरे हाथ से ईश्वर के चरणों को पकड़े रहो। जब संसार के कर्मों का अन्त हो जाएगा तब दोनों हाथों से ईश्वर के चरणों को पकड़ना।

(४)

वास्तव में सच्चा मनुष्य वह है जो जीवित होकर भी मृत है—अर्थात् मृत व्यक्ति की तरह जिसकी कामना-वासना आदि प्रवृत्तियाँ सम्पूर्णतया नष्ट हो गई हैं।

(५)

ध्यान और चिन्तन-मनन का सतत अभ्यास करना चाहिए। जिसे तीव्र व्याकुलता हो उसे शीघ्र ही भगवान् के दर्शन होते हैं।

वन्दना

— 'मधुप'

(राग—मधुवन्ती, ताल—कहरवा)

हे ध्यानसिद्ध शतदल—लोचन ।
हरने आए अज्ञान—तमस
करने आए भवदुख मोचन ।।हे।।

लेकर वेदों का ज्ञान अहो
तुम ऋषिमण्डल से आए हो ।
तव अनुपम जीवन कर्म देख
मोहित विस्मित पुलकित जग जन ।।हे।।

सन्मार्ग सनातन दिखलाया
सेवा का दर्शन सिखलाया
मधुमय सुगन्ध तव वाणी की
अब व्याप रही क्रमशः त्रिभुवन ।।हे।।

द्रुत भोगवाद हो रहा म्लान
करता नवयुग तव कीर्तिगान ।
चरणों में लाया हूँ मैं भी
स्वीकार करो मेरा जीवन ।।
हे ध्यान सिद्ध शतदल-लोचन ।।

महानायक को नमन्

मेरे आत्मस्वरूप मित्रो,

मैं अक्सर छोटी-बड़ी यात्राएँ करता रहता हूँ। इस क्रम में अनेक तरह के लोगों से मुलकातें होती रहती हैं। उनकी बातें सुनने के अवसर मिलते रहते हैं। कभी-कभी बड़ी दिलचस्प, रोचक और गंभीर बातें करते हैं वे। जब-तब कई व्यक्ति देश की मौजूदा स्थिति पर चिन्ता प्रकट करते हैं। उनका कहना होता है : देश के युवक उद्दण्ड होते जा रहे हैं। युवतियों में शील का अभाव होता जा रहा है। फैशन-परस्ती बढ़ती जा रही है। विदेशी आचार-विचार और पोशाकों का अंधानुकरण होने लगा है—तेजी से। घपले, लूट-पाट, हत्याएँ, बलात्कार, धोखाधड़ी और बाल-अपहरण की घटनाएँ दिन-ब-दिन बढ़ रही हैं। दवाओं और खाद्य-सामग्रियों में मिलावट बढ़ रही है। क्षेत्रीयता पनप रही है। जात-पात की संकीर्णताएँ उभर रही हैं। हरिजनों पर अत्याचार बढ़ रहे हैं। चारित्रिक पतन चरमोत्कर्ष पर है। राष्ट्रीय भावना मिटती जा रही है। धर्म और संस्कृति के नाम पर ढकोसले खड़े हो रहे हैं। कुल मिलाकर भयावह, शर्मनाक और चिंतनीय स्थिति हो गयी है हमारी। एक बड़े भयानक अँधेरे के दौर से हम गुजर रहे हैं। और उबरने की कोई सूरत नजर नहीं आती। पता नहीं हम कहाँ जा रहे हैं! हमारा पतन अब और कितना, कहाँ तक तथा कब तक होता रहेगा! निराशा के पर्वताकार अंधकार में आशा की कोई किरण उभरती नहीं दिखती है। दुराचार, पापाचार और कदाचार के गहराते समुद्र में डूबने को हम अभिशप्त हैं। आदर्श-पुरुष, कोई राष्ट्रनायक, कोई युगकर्त्ता ऐसा नहीं दिखता जिसके चरित्र, आचार और उपदेशों पर चलने की हमें अंतःप्रेरणा हो, जिसके बताये मार्ग पर चलकर हम अपना वास्तविक अभ्युत्थान कर सकें।

शिकायतों और हताशा के कारणों की लम्बी सूची वस्तुतः मुझे उद्वेलित करने लगती है। लेकिन मुझे लगता है, हताशा हमारी आत्मिक पराजय को ही सूचित करती है। हम केवल वस्तु-स्थितियों की आलोचना करके न अपना उपकार करते हैं, न अपने राष्ट्र का। क्या हमारे पास वस्तुतः आदर्श-पुरुष का अभाव है? जिस देश की गौरवोज्वल सांस्कृतिक, धार्मिक और दार्शनिक परम्परा इतनी पुरानी है, जिस देश को आध्यात्मिकता की इतनी ऊँची विरासत मिली है, उस देश में आदर्श-पुरुष का अभाव कैसे हो सकता है?

मेरी आंखों के सामने एक झंझावती राष्ट्र-पुरुष, एक सर्वत्यागी, सर्वानुरागी, निष्काम कर्मयोगी, आदर्श गुरु, ऋतम्भरा प्रज्ञा-सम्पन्न युगकर्त्ता और अग्निधर्मा महानायक के सम्मोहक व्यक्तित्व की चारुतापूर्ण छवि कौंध जाती है। उस छवि में हमारे अनेक रोगों की औषधि है, हमारी अनेक समस्याओं का समाधान है। उस छवि का नाम है—स्वामी विवेकानन्द।

शायद ही आज की कोई ऐसी समस्या है जिस पर स्वामीजी की तीव्र और पैनी दृष्टि न पड़ी हो और उसका समाधान उन्होंने नहीं प्रस्तुत किया हो। आवश्यकता केवल इस बात की है कि हम उन समाधानों की ओर गहराई से ध्यान दें, उन पर मनन-चिंतन करें और उनपर अमल करें। अगर हमारी शिकायतें बैठे-ठाले का गप हो तो मुझे कुछ नहीं कहना है। अगर हमारी शिकायतों में हमारी आन्तरिक व्यथा है तो हमें स्वामीजी के चरित्र, आदर्श, स्वप्न और संदेश को अपने जीवन में उतारना ही होगा—नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

वर्त्तमान भारत के अनेक रोगों का एक कारण यह है कि वह अपने मूल केन्द्र से ही हट गया है। क्या है वह मूल केन्द्र ? स्वामीजी का वचन है—'प्रत्येक व्यक्ति की भाँति प्रत्येक राष्ट्र का भी एक जीवनोद्देश्य है। वही उसके जीवन का केन्द्र है, उसके जीवन का प्रधान स्वर है, जिसके साथ अन्य सब स्वर मिलकर समरसता उत्पन्न करते हैं।···भारतवर्ष में धार्मिक जीवन ही राष्ट्रीय जीवन का केन्द्र है और वही राष्ट्रीय जीवनरूपी संगीत का प्रधान स्वर है। यदि कोई राष्ट्र अपनी स्वाभाविक जीवन शक्ति को दूर फेंक देने की चेष्टा करे—शताब्दियों से जिस दिशा की ओर उसकी विशेष गति हुई है, उससे मुड़ जाने का प्रयत्न करे—और यदि वह अपने इस कार्य में सफल हो जाय, तो वह राष्ट्र मृत हो जाता है। अतएव यदि तुम धर्म को फेंककर राजनीति, समाजनीति अथवा अन्य किसी दूसरी नीति को अपनी जीवन-शक्ति का केन्द्र बनाने में सफल हो जाओ, तो उसका फल यह होगा कि तुम्हारा अस्तित्व तक न रह जायगा। यदि तुम इससे बचना चाहो, तो अपनी जीवन-शक्ति रूपी धर्म के भीतर से ही तुम्हें अपने सारे कार्य करने होंगे—अपनी प्रत्येक क्रिया का केन्द्र इस धर्म को ही बनाना होगा। तुम्हारे स्नायुओं का प्रत्येक सपन्दन तुम्हारे इस धर्मरूपी मेरुदण्ड के भीतर से होकर गुजरे।"[1]

कैसी प्रेरक वाणी है यह ! एक महत्तम सत्य का कैसा निश्छल ऊद्घोष है ! एक क्रान्तद्रष्टा ऋषि की, आज से केवल एक सौ वर्ष पूर्व, भारत को दी गयी कैसी चेतावनी थी ! और अपने धर्म की धुरी से जुड़े नहीं रहने के कारण ही क्या आज हमारी यह दुर्दशा नहीं हो रही है ?

ऐसा नहीं है कि स्वामीजी को राजनीति या राष्ट्रीयता से परहेज था। नहीं, वे राष्ट्र-प्रेम की तो प्रतिमूर्ति ही थे। लेकिन देशभक्ति की उनकी कुछ शर्तें थीं, कुछ मान्यताएँ थीं। हमारी राजनीति को धर्मोन्मुखी होना ही होगा। "भारत में सामाजिक सुधार का प्रचार तभी हो सकता है, जब यह दिखा दिया जाय कि उस नयी प्रथा से आध्यात्मिक जीवन की उन्नति में कौन-सी विशेष सहायता मिलेगी। राजनीति का प्रचार करने के लिए हमें दिखाना होगा कि उसके द्वारा हमारे राष्ट्रीय जीवन की आकांक्षा—आध्यात्मिक उन्नति—की कितनी अधिक पूर्ति हो सकेगी।"[2]

देशभक्ति के नाम पर आज जिस तरह नैतिकता का, मूल्यों का और उच्च आदर्शों का परित्याग कर स्वार्थ-परायणता, संकीर्णता, छल और क्षुद्रता का सहारा लिया जाता है उसके कुपरिणाम किसी से छिपे नहीं हैं। किन्तु, स्वामीजी ने देशभक्ति की तीन अनिवार्य शर्तों को प्रस्तुत कर राष्ट्रभक्ति के नये आयाम प्रस्तुत किये। पूरी आत्मनिष्ठा से स्वामी जी ने घोषणा की—"लोग देशभक्ति की चर्चा करते हैं। मैं भी देशभक्ति में विश्वास करता हूँ, और देशभक्ति के सम्बन्ध में मेरा भी एक आदर्श है।" इतना कहकर उन्होंने उन तीन शर्तों या सोपानों की चर्चा की जो देशभक्ति के आवश्यक तत्व हैं। उन्होंने कहा—"पहला है हृदय की अनुभव-शक्ति।···ऐ मेरे भावी सुधारकों, मेरे भावी देशभक्तों, तुम अनुभव करो। क्या तुम अनुभव करते हो कि देव और ऋषियों की सन्तानें आज पशुतुल्य हो गयी हैं ? क्या तुम हृदय से अनुभव करते हो कि लाखों आदमी आज भूखों मर रहे है और लाखों लोग शताब्दियों से इसी भाँति भूखों मरते आये हैं ? क्या तुम अनुभव करते हो कि अज्ञान के काले बादल ने सारे भारत को ढँक लिया है ? क्या तुम यह सब सोचकर बेचैन हो जाते हो ? क्या इस भावना ने तुमको निद्राहीन कर दिया है ?···क्या उसने तुम्हें पागल-सा बना दिया

है ? क्या देश की दुर्दशा की चिन्ता ही तुम्हारे ध्यान का एकमात्र विषय बन बैठी है ? और क्या इस चिन्ता में विभोर हो जाने से तुम अपने नाम-यश, पुत्र-कलत्र, धन-सम्पत्ति यहाँ तक कि अपने शरीर की भी सुध बिसर गये हो ? क्या तुमने ऐसा किया है ? यदि 'हाँ', तो जानो कि तुमने देशभक्त होने की पहली सीढ़ी पर पैर रखा है—हाँ, केवल पहली ही सीढ़ी पर !"

फिर उन्होंने कहा—"क्या केवल व्यर्थ की बातों में शक्तिक्षय न करके इस दुर्दशा का निवारण करने के लिए तुमने कोई यथार्थ कर्त्तव्यपथ निश्चित किया है ? क्या लोगों की भर्त्सना न कर उनकी सहायता का कोई उपाय सोचा है ? क्या स्वदेशवासियों को उनकी इस जीवन्मृत अवस्था से बाहर निकालने के लिए कोई मार्ग ठीक किया है ? क्या उनके दुःखों को कम करने के लिए दो सान्त्वना-दायक शब्दों को खोजा है ? यही दूसरी बात है।"

अन्त में तीसरे सोपान की चर्चा करते हुए स्वामीजी ने कहा—"क्या तुम पर्वताकर विघ्न-बाधाओं को लाँघकर कार्य करने के लिए तैयार हो ? यदि सारी दुनिया हाथ में नंगी तलवार लेकर तुम्हारे विरोध में खड़ी हो जाय, तो भी क्या तुम जिसे सत्य समझते हो, उसे पूरा करने का साहस करोगे ? यदि तुम्हारे पुत्र-कलत्र तुम्हारे प्रतिकूल हो जायँ, भाग्य-लक्ष्मी तुमसे रूठकर चली जाय, नाम की कीर्ति भी तुम्हारा साथ छोड़ दे, तो भी क्या तुम उस सत्य में संलग्न रहोगे ? फिर भी क्या तुम उसके पीछे लगे रहकर अपने लक्ष्य की ओर सतत बढ़ते रहोगे ? क्या तुममें ऐसी दृढ़ता है ? बस यही तीसरी बात है।"[3]

देशभक्ति के लिए स्वामीजी द्वारा प्रस्तुत किये गये इन विचारों को भारत के कल्याण के लिए, अपने जीवन में उतारने की आज कितनी आवश्यकता है, इसे हम आसानी से समझ सकते हैं। वर्त्तमान भारत के देशभक्तों को इन पर ध्यान देना ही होगा।

हमारे तरुणों में पाश्चात्य जगत की वेश-भूषा और आचार-व्यवहार की नकल आज भोंड़ेपन की सीमा तक पहुँच गयी है। वे अपने पुराने मूल्यों को तोड़ने में उत्साह दिखाते हैं। नये मूल्यों का निर्माण वे कर नहीं पाते। ऐसे युवकों से स्वामीजी ने बड़े मर्मस्पर्शी ढंग से अपील की थी—"उतावले मत बनो, किसी दूसरे का अनुकरण करने की चेष्टा मत करो। दूसरे का अनुकरण करना सभ्यता की निशानी नहीं है; यह एक महान् पाठ है, जो हमें याद रखना है। मैं यदि आप ही राजा की-सी पोशाक पहन लूँ तो क्या इतने ही से मैं राजा बन जाऊँगा ? शेर की खाल ओढ़कर गधा कभी शेर नहीं बन सकता। अनुकरण करना, हीन और डरपोक की तरह अनुकरण करना कभी उन्नति के पद पर आगे नहीं बढ़ा सकता। वह तो मनुष्य के अधःपतन का लक्षण है। जब मनुष्य अपने-आप पर घृणा करने लग जाता है तब समझना चाहिए कि उस पर अन्तिम चोट बैठ चुकी है। जब वह अपने पूर्वजों को मानने में लज्जित होता है तो समझ लो कि उनका विनाश निकट है।...अतएव, भाइयो, आत्मविश्वासी बनो।...याद रहे किसी का अनुकरण कदापि न करो। कदापि नहीं। जब कभी तुम औरों के विचारों का अनुकरण करते हो, तुम अपनी स्वाधीनता गँवा बैठते हो।"[4]

लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि स्वामीजी दूसरों की अच्छाई से भी कोई सीख नहीं लेना चाहते थे। नहीं, वे दूसरों की अच्छाई को ग्रहण करना चाहते थे, किन्तु अपनी प्रकृति के अनुरूप, अपनी प्रकृति को विनष्ट कर नहीं। उन्होंने कहा था—"हाँ, दूसरों के पास जो कुछ अच्छाई हो, उसे अवश्य ग्रहण करो। हमें दूसरों से अवश्य सीखना होगा। जमीन में बीज बो दो, उसके लिए पर्याप्त

मिट्टी, हवा और पानी की व्यवस्था करो; जब वह बीज अंकुरित होकर कालान्तर में एक विशाल वृक्ष के रूप में फैल जाता है, तब क्या वह मिट्टी बन जाता है, या हवा या पानी ? नहीं. वह तो विशाल वृक्ष ही बनता है - मिट्टी, हवा और पानी से रस खींचकर वह अपनी प्रकृति के अनुसार एक महीरुह का रूप ही धारण करता है। उसी प्रकार तुम भी करो—औरों से उत्तम बातें सीखकर उन्नत बनो। जो सीखना नहीं चाहता, वह तो पहले ही मर चुका है !"[६]

यह सच है कि देश आज अनेक कुरीतियों के अंधकार में आ फँसा है। लेकिन बुराइयों का रोना रोने मात्र से ही तो काम नहीं चलने का ! हमें अच्छाइयों की ओर जाना ही होगा। स्वामीजी ने बड़े प्रेरक शब्दों में एक मंत्र दिया था—"मैंने भारतवासियों से बारम्बार कहा है और अब भी कह रहा हूँ कि कमरे में यदि सैकड़ों वर्षों से अन्धकार फैला हुआ है, तो क्या 'घोर अन्धकार !', 'भयंकर अन्धकार !!' कहकर चिल्लाने से अन्धकार दूर हो जायगा ? नहीं; रोशनी जला दो, फिर देखो कि अँधेरा आप ही दूर हो जाता है या नहीं ! मनुष्य के सुधार का, उसके संस्कार का यही रहस्य है। उसके समक्ष उच्चतर बातें उच्चतर प्रेरणाएँ रखो; पहले मनुष्य में, उसकी मनुष्यता में विश्वास रखो।...लोगों से यह भी कहने की आवश्यकता नहीं कि तुम लोग जो कुछ कर रहे हो, वह ठीक नहीं है, खराब है। जो कुछ अच्छा है, उसे उनके सामने रख दो; फिर देखो, वे कितने आग्रह के साथ उसे ग्रहण करते हैं।"[७]

तो हमें केवल देश की दुर्दशा और दुरवस्था की चर्चा नहीं करनी है। ऐसा करके हम केवल अपना मनोरंजन करते हैं। "मेरी बात पर ध्यान दो। यदि तुम देश की भलाई करना चाहते हो तो तुममें से प्रत्येक को गुरु गोविन्द सिंह बनना पड़ेगा। तुम्हें अपने देशवासियों में भले ही हजारों दोष दिखायी दें, पर तुम उनकी रग-रग में बहने वाले हिन्दू रक्त की ओर ध्यान दो। तुम्हें पहले अपने इन स्वजातीय नर-रूप देवताओं की पूजा करनी होगी, भले ही वे तुम्हारी बुराई के लिए लाख चेष्टा किया करें। इनमें से प्रत्येक व्यक्ति यदि तुम पर अभिशाप और निन्दा की बौछार करे तो भी तुम इनके प्रति प्रेमपूर्ण वाणी का ही प्रयोग करो। यदि ये तुम्हें त्याग दें, पैरों से ठुकरा दें तो तुम उसी वीर केसरी गोविन्द सिंह की भाँति समाज से दूर जाकर नीरव भाव से मौत की राह देखो।—हमें अपने सामने सदा इसी प्रकार का आदर्श रखना होगा। पारस्परिक विरोध-भाव को भूलकर चारों ओर प्रेम का प्रवाह बहाना होगा।"[८]

विदेश से लौटने पर बड़े मार्मिक शब्दों में स्वामीजी ने मद्रास में अपने देशवासियों को निर्देश दिया था—"ऐ मेरे स्वदेशवासियों, मेरे मित्रों, मेरे बच्चों,...यदि हमारे इस समाज में, इस राष्ट्रीय जीवन-रूपी जहाज में छेद है, तो हम तो उसकी संतान हैं। आओ चलें, उन छेदों को बन्द कर दें—उसके लिए हँसते-हँसते अपने हृदय का रक्त बहा दें। और यदि हम ऐसा न कर सकें तो हमें मर जाना ही उचित है। हम अपना भेजा निकालकर उसकी डाट बनायेंगे और जहाज के उन छेदों में भर देंगे। पर उसकी भर्त्सना न करें। इस समाज के विरुद्ध एक कड़ा शब्द तक न निकालो।"[९]

स्वामीजी ने समाज के दीन-हीन, उपेक्षित और कमजोर वर्ग के लोगों के अभ्युत्थान, ऊँच-नीच के भेद के समापन और सबके बीच धर्मशास्त्र के समभाव से प्रचार-प्रसार पर विशेष ध्यान दिया था। अपने एक प्रमुख भाषण में स्वदेशवासियों का आह्वान करते हुए उन्होंने वज्रघोष किया था—'यदि वंशानुक्रम के आधार पर पैरियों (दक्षिण भारत की एक अस्पृश्य जाति) की अपेक्षा ब्राह्मण आसानी

से विद्याभ्यास कर सकते हैं, तो उनकी शिक्षा पर धन व्यय मत करो। दुर्बलों की सहायता पहले करो, क्योंकि उनको हर प्रकार के प्रतिदान की आवश्यकता है। भारत के इन दीन-हीन लोगों को, इन पददलित जाति के लोगों को, उनका अपना वास्तविक रूप समझा देना परमावश्यक है। जात-पाँत का भेद छोड़कर, कमजोर और मजबूत का विचार छोड़कर, हर एक स्त्री-पुरुष को, प्रत्येक बालक-बालिका को, यह सन्देश सुनाओ और सिखाओ कि ऊँच-नीच, अमीर-गरीब और बड़े-छोटे सभी में उसी एक अनन्त आत्मा का निवास है, जो सर्वव्यापी है, इसलिए सभी लोग महान् तथा सभी लोग साधु हो सकते हैं।"[9]

भारत मूलतः विभिन्न सद्वृत्तियों, सद्गुरुओं और सद्धर्मों का देश है। क्षमा, करुणा, त्याग, तितिक्षा, आत्मसंधान और सर्वमंगला शिवात्मक दृष्टि इसकी विशेषता है। इस देश का भविष्य उज्वल है। इसका विनाश नहीं हो सकता। निराशा के गहराते अंधकार में आशा, उत्साह और विश्वास की किरण-डोर बिखेरते हुए स्वामीजी ने भविष्यवाणी की—"क्या भारत मर जायगा? तब तो संसार से सारी आध्यात्मिकता का समूल नाश हो जायगा, सारे सदाचारपूर्ण आदर्श जीवन का विनाश हो जायगा, धर्म के प्रति सारी मधुर सहानुभूति नष्ट हो जायगी, सारी भावुकता का भी लोप हो जायगा। और उसके स्थान में कामरूपी देव और विलासिता रूपी देवी राज्य करेगी। धन उनका पुरोहित होगा। प्रतारणा, पाशविक बल और प्रतिद्वन्द्विता, ये ही उनकी पूजा पद्धति होगी और मानवता उनकी बलि सामग्री हो जायगी। ऐसी दुर्घटना कभी हो नहीं सकती।"[10]

तो मेरे मित्रों, ये हैं कुछ ऐसे विलक्षण संदेश, एक युग निर्माता, एक आदर्श गुरु, एक वीतरागी राष्ट्रभक्त संन्यासी स्वामी विवेकानन्द के, जो आज भी हमारा मार्ग दर्शन कर सकते हैं, वर्तमान भयावह स्थितियों से उबरने के लिए। हमें इन सन्देशों की ओर मुड़ना ही होगा, इन उपदेशों को अपनाना ही होगा, इन आदर्शों पर चलना ही होगा, अपने और पूरे भारत के कल्याण के लिए, मंगल के लिए! भगिनी निवेदिता ने कहा है: "विवेकानन्द की कृतियों का संगीत शास्त्र, गुरु तथा मातृभूमि —इन तीन स्वर-लहरियों से निर्मित हुआ है। उनके पास देने योग्य यही निधि थी। इन्हीं से उन्हें वे उपकरण मिले जिनसे विश्व विकार को दूर करनेवाली आध्यात्मिक सम्पत्ति का परिपाक उन्होंने प्रस्तुत किया।" मैं उन्हीं ज्योति किरीटी, नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त, आर्तनाथ, युगकर्त्ता महानायक स्वामी विवेकानन्द को नमन करता हुआ उनसे आन्तरिक प्रार्थना करता हूँ कि वे हमें, भारत के हम कोटि-कोटि निवासियों को, अपने आदर्शों और उपदेशों पर चलने की प्रेरणा, शक्ति और प्रकाश प्रदान करें। जय स्वामीजी।

---

१. विवेकानन्द साहित्य : अद्वैत आश्रम : कलकत्ता पंचम खंड : पृष्ठ ११५
२. वही : वही : वही : पृष्ठ ११५-१६
३. विवेकानन्द साहित्य : पंचम खंड : पृ० १२०-२२
४ विवेकानन्द साहित्य : पंचम खंड : पृष्ठ २७२
५. वही : वही : पृष्ठ २७३ ६. विवेकानन्द साहित्य : पंचम खंड : पृष्ठ २७५-७६
७. वह : वही : पृष्ठ २७१ ८. वही : वही : पृष्ठ १२२.
९: वि० सा० : पंचम खंड : पृष्ठ ८९

अग्नि-वीणा

—स्वामी विवेकानन्द

(१)

"भय क्या है ? सदा विचार किया कर—यह शरीर, घर, जीव-जगत् सभी सम्पूर्ण मिथ्या है—स्वप्न की तरह है, सदा सोचा कर कि यह शरीर एक जड़-यन्त्र मात्र है। इसमें जो आत्माराम पुरुष है, वही तेरा वास्तविक स्वरूप है। मनरूपी उपाधि ही उसका प्रथम और सूक्ष्म आवरण है, उसके बाद देह उसका स्थूल आवरण बना हुआ है। निष्कल, निर्विकार, स्वयं ज्योति वह पुरुष इन सब मायिक आवरणों से ढका हुआ है इसलिए तू अपने स्वरूप को जान नहीं पाता है। रूप-रस की ओर दौड़ने वाले इस मन की गति को अन्दर की ओर लौटा देना होगा; मन को मारना होगा। देह तो स्थूल है—यह मरकर पंचभूतों में मिल जाती है, परन्तु संस्कारों की गठरी अर्थात् मन शीघ्र नहीं मरता। बीज की भाँति कुछ दिन रहकर फिर वृक्ष रूप में परिणत होता है, फिर स्थूल शरीर धारण करके जन्म-मृत्यु के पथ में आया-जाया करता है। जब तक आत्म ज्ञान नहीं हो जाता तब तक यही क्रम चलता रहता है।

(२)

किस शास्त्र में ऐसी बात है कि स्त्रियाँ ज्ञान-भक्ति की अधिकारिणी नहीं होंगी ? भारत का अधःपतन उस समय हुआ जब ब्राह्मण पण्डितों ने ब्राह्मणेतर जातियों को वेद-पाठ का अनाधिकारी घोषित किया। और साथ ही, स्त्रियों के भी सभी अधिकार छीन लिये। नहीं तो वैदिक युग में, उपनिषद युग में, तू देख कि मैत्रेयी, गार्गी आदि प्रातः स्मरणीय स्त्रियाँ ब्रह्मविचार से ऋषितुल्य हो गयी थीं। हजार वेदज्ञ ब्राह्मणों की सभा में गार्गी ने गर्व के साथ याज्ञवल्क्य को ब्रह्मज्ञान के शास्त्रार्थ के लिए आह्वान किया था। इन सब आदर्श विदुषी स्त्रियों को जब उस समय अध्यात्म ज्ञान का अधिकार था तब फिर आज भी स्त्रियों को वह अधिकार क्यों न रहेगा ? एक बार जो हुआ है, वह फिर अवश्य ही हो सकता है। इतिहास की पुनरावृत्ति हुआ करती है।

(३)

जिसे विश्वास नहीं है, उसे देखने पर भी कुछ नहीं होता। देखने पर सोचता है कि यह कहीं अपने मस्तिष्क का विकार या स्वप्नादि तो नहीं है ? दुर्योधन ने भी विश्वरूप देखा था, अर्जुन ने भी विश्वरूप देखा था। अर्जुन को विश्वास हुआ किन्तु दुर्योधन ने उसे जादू समझा ! यदि वे ही न समझायें तो और किसी प्रकार से समझने का उपाय नहीं हैं। किसी-किसी को बिना कुछ देखे सुने ही पूर्ण विश्वास हो जाता है और किसी को बारह वर्ष तक प्रत्यक्ष सामने रहकर नाना प्रकार की विभूतियाँ देखकर भी सन्देह में पड़ा रहना होता है। सारांश यह है कि उनकी कृपा चाहिए परन्तु लगे रहने से ही उनकी कृपा होगी।

—विवेकानन्द साहित्य ; द्वितीय खंड से साभार

स्वामी विवेकानन्द

—स्वामी अध्यात्मानन्द
अध्यक्ष, रामकृष्ण मठ, जामताड़ा

विश्वमातृक व्यक्तित्व ही थे स्वामी विवेकानन्द। जिस प्रकार माताएँ अपनी-अपनी संतानों के कल्याण एवं सुख-समृद्धि हेतु सदा तत्पर एवं प्रयत्नशील रहती हैं, वैसे ही विश्व वरेण्य स्वामी विवेकानन्द विश्ववासियों के कल्याण एवं सुख-समृद्धि हेतु चिन्तित एवं इसके लिए आजीवन प्रयत्नशील थे।

उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। वे अजस्र भाव एवं भूमिका लेकर इस धरा-धाम पर अवतीर्ण हुए थे। वे एक ही साथ नेता, धर्मगुरु, आचार्य, दार्शनिक, ऐतिहासिक, देशप्रेमी, वक्ता, समाज-शास्त्री, साहित्यिक, रसिक, गायक, सुहृद-मित्र कल्याणकारी, सभा-मध्यमणि, क्रीड़ाविद एवं प्रेरणादयक ईश्वर पुरुष आदि सद्गुणों से विभूषित थे। वे विराट्, विचित्र विश्वपथिक एवं विश्व की नई-नई प्रतिभा के पथ पदर्शक थे।

बचपन से ही स्वामी जी के अन्दर नेतृत्व की अद्भुत क्षमता विद्यमान थी। यह देखकर युगावतार भगवान श्रीरामकृष्णदेव स्वयं संन्यासी संघ के नेता के रूप में उन्हें चुन गए थे। ईश्वर के साथ नित्ययुक्त बुद्ध एवं यीशु के सदृश व्यक्तित्व दोनों हाथों से इहलोक-परलोक रूपी विपरीतोन्मुखी अत्युच्च पर्वतों को स्पर्श करके बीच में अवस्थित थे। वे नवीन एवं चिरन्तन थे।

वे स्वदेशप्रेमी थे। मातृभूमि उनके लिए स्वर्ग से भी बढ़कर था। यहाँ की मिट्टी उनके लिए सोना थी। प्रत्येक भारतवासी उनका सगा भाई एवं दीन, दरिद्र, मूर्ख, चांडाल भारतवासी उनके उपास्य देवता थे। भारत वर्ष उनके बचपन का झूला यौवन का उपवन एवं वृद्धावस्था का वाराणसी था। स्वामीजी भारत की घनीभूत प्रतिमूर्ति थे।

स्वामीजी ने संन्यासियों की चिराचरित प्रथा मुक्ति ही एकमात्र लक्ष्य है—इस स्वार्थी भावना को त्यागकर भारतवर्ष के कल्याण हेतु परिव्राजक रूप धारण कर समग्र भारत भ्रमण करके राज प्रसाद से जीर्ण पर्णकुटीर की अभिज्ञता लेकर भारतवर्ष के अंतिम छोर कन्याकुमारी की एक चट्टान में बैठकर प्राचीन ग्रीक सभ्यता के समकालीन गौरवमय भारतवर्ष का आविष्कार किया एवं वर्त्तमान भारतवर्ष की दैन्यदुर्दशा को देखकर भावि उन्नत भारतवर्ष की परिकल्पना तैयार की। वे श्री श्रीमाँ का आशीर्वाद एवं श्रीरामकृष्णदेव का निर्देश पाकर विश्व-धर्म महासभा में भाग लेने हेतु अमरीका गए एवं वहाँ जाकर श्रीरामकृष्ण भावधारा का प्रचार किया एवं विश्वमंच पर भारतवर्ष की पताका लहरायी। वे भारत की आध्यात्मिक शक्ति एवं पाश्चात्य देशों के अत्याधुनिक अत्युच्च प्रयुक्ति विज्ञान के सम्मिश्रण से भारत को उन्नत करना चाहते थे। वे भारत के पुनर्निर्माण का उत्तरदायित्व नवयुवकों पर सौंप गये। वे इस कार्य को करने के लिए आशिष्ट (आशावान्) दृढ़िष्ठ (दृढ़ इच्छाशक्ति संपन्न) बलिष्ठ (बलवान), मेधावी एवं चरित्रवान

युवक चाहते थे। उनके दृष्टिकोण से युवकों की मांसपेशी लौह सदृश, स्नायु इस्पात सदृश एवं मन व्रज सदृश कठोर होना चाहिए। ऐसे युवक जिसका मन विषद-वासना से मुक्त अनाग्रह एवं अकीटदंशित पुष्प की भाँति हो, जिसका मन मिट्टी के उस नए पात्र के समान हो, जिसमें दूध रखने पर कोई विकार उत्पन्न न हो, जिसका मन शुद्ध दूध के समान हो, जिस प्रकार पानी मिश्रित दूध को उबालने में अधिक समय एवं अधिक उष्मा की आवश्यकता होती है उसी प्रकार विषय-वासना रूपी अशुद्धियों से युक्त मन को शुद्ध करने के लिए अधिक समय लगता है, एवं जिसका मन गीली मिट्टी के समान हो जिसे इच्छानुसार नए रूपों में ढाला जा सके।

अतीत के गौरवमय भारतवर्ष का समाज ऋषि मुनियों के सत्य, निष्ठा एवं त्याग-तपस्या पर प्रतिष्ठित था। इसके पचात् उपनिषद युग में समाज में ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ एवं संन्यास में विभाजित था। द्वापर युग में भगवान् श्रीकृष्ण ने गुण एवं कर्म के अनुसार समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र चार वर्णों में विभाजन किया। तत्पश्चात एकान्तवर्ती परिवार के वयोज्येष्ठ व्यक्ति को ही समाज का आदर्श रूप में माना जाता था। परन्तु आज का युग वैज्ञानिक युग है। आधुनिक समाज विज्ञान एवं गणतंत्र पर आधारित है। इसलिए आधुनिक मनुष्य विज्ञान की इस चकाचौंधपूर्ण प्रकाश से आकृष्ट हो सुखभोग के लिए लालायित रहते हैं एवं युव समाज दिग्-भ्रमित हो लक्ष्यभ्रष्ट हो गए हैं वर्त्तमान युग में वैज्ञानिक प्रभाव के समाज का अवमूल्यन हुआ है। समाज में दया, सहिष्णुता, मैत्री, निःस्वार्थ मानव प्रेम, करुणा, इत्यादि मूल्यों का ह्रास हुआ है एवं इसके फलस्वरूप मनुष्य समाज, दुखःकष्टपूर्ण, दरिद्र, निराशा, अशांति, ईर्ष्या, द्वेष से युक्त होकर सारविहीन हो गया है।

वर्त्तमान भारत की प्रधान समस्या हीन बोध है। हमलोग कुछ भी नहीं हैं एवं कुछ भी नहीं कर सकते इस प्रकार का मनोभाव। देश स्वाधीन है लेकिन मनुष्य का मन क्या स्वाधीन है? मन की स्वाधीनता ही सच्ची स्वाधीनता है भारत आत्मविस्मृत है। आत्मविस्मृति ही आत्महत्या के समान हैं। जिस भारत में श्रीरामकृष्ण का आविर्भाव हुआ है वह भारत दुर्बल, अक्षम, अपदार्थ हो नहीं सकता। कारण रोमा रोला के अनुसार भारतवर्ष के पाँच हजार वर्षों की साधना के घनीभूत रूप थे 'श्रीरामकृष्ण'। सब मनुष्यों को एक ही चिन्तन एक भाषा, एक पहनावा, एक आहार-विहार संभव नहीं है। समाज व्यवस्था जो भी है वैचित्य रहेगा ही। इसलिए आपस में मधुर सम्बन्ध स्थापित करना होगा। सभी जीवों में एक ही आत्मा विद्यमान है तथा सभी एक हैं इसी दृष्टिकोण एवं इसी समदर्शन का श्रीरामकृष्ण में श्रेष्ठ प्रकाश है। श्रीरामकृष्ण का पथ ही आदर्श पथ है। यह पथ श्रेय का पथ, ज्ञान का पथ, ऐहिक एवं पारलौकिक कल्याण का पथ है।

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

जर्मन के प्रख्यात दार्शनिक Homewitch के अनुसार श्रीरामकृष्ण विवेकानन्द ही वर्त्तमान समाज में परिवर्त्तन ला सकते हैं।

"सर्वे सन्तु सुखिनः
सर्वे सन्तु निरामया
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु
मां कश्चित् दुख भाग् भवेत्।"

२२ फरवरी : जन्म दिवस

स्वामी अद्भुतानन्द

—डा० ओंकार सक्सेना
जयपुर

स्वामी विवेकानन्द ने कहा था "लाटू श्रीरामकृष्णदेव के सर्वश्रेष्ठ आश्चर्य हैं। उनके स्पर्श मात्र से वे अत्यन्त निम्न अवस्था से उच्चतम आध्यात्मिक सम्पत्ति के अधिकारी हो गये हैं।" श्रीरामकृष्णदेव उन्हें प्यार से लेटो और स्वामी विवेकानन्द उन्हें प्लेटो (ग्रीक दार्शनिक) कहा करते थे[1] रख्तूराम, एक गड़ेरिये के घर जन्मे थे[1] और पाँच वर्ष की उम्र में अनाथ हो गये थे। उनके चाचा ने उन्हें रामचन्द्र दत्त का घरेलू नौकर नियुक्त करा दिया था। रामचन्द्र दत्त द्वारा घर में श्रीरामकृष्णदेव के दुहराये गये उपदेशों ने, "भगवान मन देखते हैं, कौन किस काम में है, कौन कहाँ पड़ा हुआ है, इसे नहीं देखते।" "जो व्याकुल होकर ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता, उसके ही निकट ईश्वर प्रकट होते हैं।" "निर्जन में उनके लिये प्रार्थना करनी चाहिए, उनके लिए रोना चाहिये, तभी तो उनकी दया होती है।" उनके सरल स्वभाव को इन्हीं साधु के चिंतन में प्रवृत कर दिया था।

१८८० के प्रारम्भ में एक रविवार को वे आग्रह कर रामचन्द्र दत्त के साथ दक्षिणेश्वर गये थे। श्रीरामकृष्णदेव ने बालक को देखते ही रामचन्द्र दत्त से कहा था, "मालूम होता है इस लड़के को तुम साथ लाए हो ? इसको कहाँ पाया ? इसमें साधु का लक्षण जो देखता हूँ।" लाटू ने चरण छूकर प्रणाम किया तथा हाथ जोड़े खड़े रहे। श्रीरामकृष्णदेव कह रहे थे, "जो नित्यसिद्ध हैं उन लोगों को जन्म-जन्म ज्ञान रहता ही है। वे लोग पत्थर से दबे हुए फव्वारे हैं। मिस्त्री इधर-उधर उकसाते-फुसकाते ज्यों ही एक जगह के दबाने वाले पत्थर को हटा देता है, त्यों ही फव्वारे के मुँह से पानी निकलने लग जाता है।" इतना कहकर श्रीरामकृष्णदेव ने लाटू को छू दिया और लाटू किसी और जगत में पहुँच गये। बहुत देर बाद श्रीरामकृष्णदेव ने पुनः स्पर्श कर इनका भाव संवरण किया तथा रामचन्द्र दत्त से कहा, "यहाँ इसे बीच-बीच में भेजना।" यही लाटू आगे चलकर श्रीरामकृष्णदेव के प्रिय पार्षद स्वामी अद्भुतानन्द कहलाए।

एक दिन रामचन्द्र दत्त द्वारा भेजे गये फल मिष्ठान्नादि लेकर लाटू दक्षिणेश्वर पहुँचे थे। श्रीरामकृष्णदेव काली माता का विशिष्ट प्रसाद ग्रहण करने बैठे थे। इनके प्रान्तीय संस्कार पर आघात न हो इस विचार से श्रीरामकृष्णदेव ने लाटू से कहा, "विष्णु मंदिर का सात्त्विक भोग ग्रहण कर लो।" सरल स्वभाव से लाटू ने कहा, "आप जो कुछ पायेंगे, मैं वही खाऊँगा, मैं तो आपका प्रसाद लूँगा, उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं खाऊँगा।" इस पर निकट उपस्थित रामलाल से श्रीरामकृष्ण देव बोले, "चालाक है रे, देखते हो ? मैं जो पाऊँगा चतुर उसी में हिस्सा लेना चाहता है।" कामारपुकुर जलवायु परिवर्तन हेतु

---

१. रख्तूराम (स्वामी अद्भुतानन्द) का जन्म बिहार राज्य के छपरा जिला में स्थित एक निविड़ ग्राम में हुआ था।

जाने के पूर्व श्रीरामकृष्ण देव ने एक बार लाटू को अनासक्त भाव से मालिक के घर रहने की शिक्षा दी थी। लाटू ने यह अनुभव किया, कि "मन के दुःख को दबाकर रखने पर भी वह क्रमशः बढ़ता ही जाता है।" उन्हें श्रीरामकृष्ण देव के कामारपुकुर जाने का दुःख था।

लाटू कहते थे, "ठाकुर (श्रीरामकृष्ण देव) ने मुझे खींच लिया है। मुझसे कहा करते हैं देखो दिल को साफ रखना और अहंकार के व्यापार की धूल जमने नहीं देना।"

श्रीरामकृष्ण देव ने एक बार लाटू से पूछा, "अरे! कह सकता है कि भगवान सोते हैं या नहीं?" लाटू ने कहा, "मेरे लिए यह जानना असम्भव है।" तब फिर श्रीरामकृष्ण देव ने कहा—"भगवान को सोने की फुरसत नहीं। वे सारे दिन सारी रात जाग-जागकर जीव-जन्तुओं की सेवा करते है। इसी से निर्भय होकर जीव-जन्तु सो सकते हैं।" इसके बाद लाटू सारी रात ध्यान धारणा में बिताते थे तथा दिन में थोड़ा-बहुत विश्राम कर लेते थे।

१८८६ में श्रीरामकृष्ण देव के शरीर छोड़ने के बाद श्रीमाँ सारदा के साथ वे वृन्दावन गये थे। बाद में वे वाराहनगर में रहे वहाँ संन्यास ग्रहण करने के बाद उनका नाम अद्भुतानन्द हुआ।

अद्भुतानन्द हमेशा ध्यान में हीं रहते थे। स्वामी रामकृष्णानन्द कहा करते थे, "लाटू को पुकार-पुकार कर खिलाए बिना उसको स्वयं खाने का होश ही नहीं रहता।" गिरीश बाबू कहते थे "गीता के साधु को यदि देखना है तो लाटू को जाकर देखो, स्थितिप्रज्ञ मूर्त्ति।"

१८९७ में स्वामी विवेकानन्द के अमेरिका से लौटने पर पशुपति बाबू के घर उनका सम्मान हुआ था। लाटू वहाँ नहीं देखे गये। इन्हें खोजा गया। तब स्वामी विवेकानन्द ने उन्हें कहा था, "तुम हमारे वही लाटू भाई हो, मैं तुम्हारा वही नरेन भाई हूँ।" उत्तर भारत के भ्रमण के लिए स्वामी विवेकानन्द स्वामी अद्भुतानन्द को भी साथ ले गये थे। कश्मीर के एक प्राचीन मन्दिर के सम्बन्ध में स्वामीजी ने कहा यह ढाई-तीन हजार वर्ष पुराना है। लाटू ने पूछा, "तुमने यह बात कैसे जानी मुझे समझा दो, यह बात लिखी हुई है क्या?" स्वामीजी ने हँसते हुए कहा, "तुमको यह बात समझा नहीं सकूँगा। यदि तुम पढ़ना-लिखना सीखते तब शायद तुम्हें समझाने की चेष्टा करता।" लाटू ने तुरन्त कहा, "ओ समझ गया। तुम ऐसे विद्वान हो कि हमारे जैसे महान् मूर्ख को भी समझा नहीं सकते।" सब लोग हँस पड़े। कश्मीर भ्रमण के बाद स्वामी विवेकानन्द खेतड़ी पहुँच कर राजप्रसाद के अतिथि हुए। स्वामी अद्भुतानन्द राजा का अन्न ग्रहण नहीं करते थे, चुपके से बाहर से खाकर चले आते थे। एक बार उन्होंने महल के दरवान की रोटी और पकाया हुआ बैगन ग्रहण किया था। दरवान घबराया हुआ था कि राज अतिथि को भिक्षा देकर उसने क्या अनर्थ कर डाला। स्वामी विवेकानन्द के साथ वे जयपुर भी घुमने आए थे।

१८९९ में वे 'बसुमती' के छापेखाने में चले गये थे और वहाँ वे निम्न स्तर के लोगों से मिलते थे। किसी ने प्रश्न किया, "जो चरित्रहीन हैं आप क्यों मिलते-जुलते हैं?" तब आपने जवाब दिया, "वे निष्कपट तो हैं न।" स्वामी विवेकानन्द ने इन्हें 'मठ का ट्रस्टी' रूप में लेना चाहा तब उन्होंने कहा, "मुझे यह सब झंझट अच्छा नहीं लगता, मैं इन सब में नहीं रहूँगा। बलराम मंदिर में एक दिन एक शराबी इन्हें कड़वी बातें कहने लगा तो

उसे भक्त लोग सजा देने पर उतारू हो गये। स्वामी अद्भुतानन्द ने रोकते हुए कहा, "देखो। वह तो शराब पीकर मतवाला हो गया है और गाली-गलौज कर रहा है। किन्तु तुम लोग तो बिना शराब पिये ही मतवाले बनकर गाली-गलौज कर रहे हो। किस को दण्ड देना उचित है कहो तो ? उसको तुम लोग क्या मारोगे ? उसे तो शराब ने ही मार डाला है।" एक दिन विहारी बाबू ने इनसे पूछा, "क्या हमें परिवार छोड़कर केवल ईश्वर की आराधना ही करनी चाहिए ?" लाटू महाराज ने जवाब दिया, परिवार भी ईश्वर का ही है। उसे परिवार के असली मुखिया की तरह पूजो। संसार के प्रति तो कर्त्तव्य निभाना ही पड़ेगा और फिर जो कुछ है मन ही तो है। यदि मन की प्रवृति भोग की ओर है तो जंगल में भी भटकेगा और और यदि नहीं तो इन सब से घिरे रहकर भी निरासक्त रहेगा।"

स्वामी गंभीरानन्द लिखते हैं, "इन्हीं निरक्षर स्वामी अद्भुतानन्द के मुख से अविराम उच्च धार्मिक तत्वों को सुनने के लिए बहुत से शिक्षित व्यक्ति भी मंत्रमुग्ध के समान दीर्घकाल तक बैठे रहते थे। उनकी गंभीर अनुभूति तथा दूसरे के मन में प्रेरणा जगाने की अद्भुत क्षमता को देखकर अवाक् हो जाना पड़ता है।"

★

आप स्वयं अपने भाग्य के विधाता हैं।

—डॉ० किरण वेदी

अनुवादिका—डॉ० इन्दुबाला दीवान

[रामकृष्ण मठ एवं मिशन द्वारा २० नवम्बर १९९४ को रवीन्द्र सरोवर स्टेडियम, कलकत्ता, में एक विशाल युवा सम्मेलन आयोजित किया गया था। इसमें सम्पूर्ण भारतवर्ष से लगभग ४०,००० युवा भाई-बहनों ने भाग लिया था। इस सम्मेलन को अन्य वक्ताओं के अतिरिक्त सुप्रसिद्ध महिला पुलिस पदाधिकारी, मेगसेसे एवार्ड से सम्मानित डॉ० किरण वेदी ने भी अपने अग्नि-धर्मी, प्रेरक और चिन्तनपूर्ण शब्दों से सम्बोधित किया था। उनके उसी प्रभावशाली भाषण (जो हिन्दी और अँग्रेजी में मिलाकर दिया गया था) का सार संक्षेप यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। अनुवादिका हैं—डॉ० इन्दुबाला दीवान।-सं०]

आदरणीय स्वामीजी, इस सभा के अध्यक्ष, हमारे आदरणीय खेलकूद और युवा प्रवृत्तियों के राजमंत्री श्री मुकुल वासनिकजी और मेरे प्यारे युवा भाई-बहनों।

इस विशाल स्टेडियम में आपको इतनी बड़ी संख्या में यहाँ उपस्थित देखकर मुझे बड़ा हर्ष हो रहा है। मैं अपना वक्तव्य हिन्दी और अँगरेजी दोनों भाषा में दूँगी, ताकि ज्यादा से ज्यादा लोग इस वक्तव्य को समझ सकें। मुझे खेद है कि मैं बंगाली में नहीं बोल सकती। उसके लिए मुझे पहले बंगाली-भाषा सीखनी पड़ेगी। इसके लिए तो मेरी पोस्टींग आपको बंगाल में करनी पड़ेगी।

अभी आपने स्वामी विवेकानन्दजी के मुख्य

संदेश को सुना कि हरेक व्यक्ति में, अनन्त शक्ति, दिव्य शक्ति निहित है। मैं तो मानती हूँ कि स्वामी विवेकानन्दजी का युवावर्ग के लिए कोई अव्वल दर्जे का सन्देश है तो वह यह है :— "बलवान बनो, साहसी बनो, नीडर बनो," स्वामीजी ने कहा था, "तुम गीता के अध्ययन की अपेक्षा फूटबॉल के खेल के द्वारा परमात्मा के अधिक निकट पहुँच सकोगे।" सोचो तो सही एक संन्यासी ऐसी क्रान्तिकारी बातें कर रहा है! एक सर्वत्यागी संन्यासी कोई बात कहे तो हमें माननी पड़ती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि स्वामीजी गीता को कम महत्व दे रहे हैं। वे जानते थे कि—

"Strong mind in a Strong body"

'शक्तिशाली मन बलवान शरीर में ही रहता है।' इसलिए उन्होंने हमारे युवकों को सबसे पहले शरीर से बलवान बनने का आह्वान किया।

एक दूसरी बात जो स्वामीजी बार-बार कहते थे वह है—"आप स्वयं अपने भाग्य के विधाता हैं।" भाग्य को दोष देकर रोने से कोई लाभ नहीं होता। सभी दोष अपने पर लीजिए और काम में लग जाइए। आजकल ज्यादातर युवक-युवतियों में एक बात देखने को मिलती है कि वे लोग अपने दोषों के लिए अन्य को जिम्मेवार ठहराते हैं। वे औरों पर आधार रखते हैं। पर वे खुद अपनी सहायता नहीं करते। अभी ही आप, पू० जितात्मानन्दजी महाराज से सुना कि मेरे निमन्त्रण को स्वीकार करके वे तिहार जेल में प्रवचन देने आए थे। कैदियों के चरित्र निर्माण के लिए, विकास के लिए हम सभी प्रयत्नशील हैं। इन कैदियों में ज्यादातर युवक यही कहते हैं कि "हम हमारे माता-पिता के कारण नालायक बने हैं—किंतु वे यह स्वीकार नहीं करते कि "जो भूलें हमने की हैं उसके लिए हम स्वयं दोषी हैं।" भाग्य को दोष देने से कुछ हासिल नहीं होता क्योंकि हमारे कर्मानुसार भाग्य का निर्माण होता है। भगवान के भरोसे बैठे रहना नहीं चाहिए। फल तो भगवान देते हैं, किन्तु कर्म तो हमें ही करने पड़ेंगे। इसलिए कैसी भी प्रतिकूल परिस्थिति में बिना हिम्मत हारे हमारे युवा भाई-बहनों को दृढ़ पुरुषार्थ करने के लिए सदैव तैयार रहना चाहिए। स्वामी विवेकानन्द की पुस्तकों में आप लोगों को इसी तरह के सभी शक्तिशाली विचार देखने को मिलेंगे।

[गुजराती मासिकी 'श्रीरामकृष्ण ज्योत' के युवा विशेषांक में प्रकाशित हुआ था। वहीं से यह गृहीत है]

प्रश्न—मुझ पर ईश्वर की कृपा कब होगी ?

उत्तर—ऐसा कोई नियम नहीं है कि अगर कोई तपस्या कर रहा है तो उस पर ईश्वर की कृपा होगी ही। प्राचीन काल में ऋषियों ने हजारो वर्ष तक शीर्षासन करते हुए धूनी जलाकर तपस्या की थी। इतना होते हुए भी उनमें से कुछ को ही ईश्वर की कृपा प्राप्त हुई।

प्रश्न—माँ, मैंने इतना अधिक जप-तप किया है, पर मुझे तो कुछ भी नहीं मिला !

उत्तर—भगवान् कोई मछली या तरकारी नहीं हैं बेटा, जो तुम उन्हें दाम चुकाकर खरीद लो।

—माँ सारदा

स्वामी अखण्डानन्दजी महाराज की स्मृतियाँ

—स्वामी अकामानन्द

रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, कनखल

स्वामी अखण्डानन्दजी महाराज के प्रथम दर्शन का सौभाग्य मुझे सन् १९३४ के नवम्बर महीने में नागपुर के रेलवे स्टेशन पर प्राप्त हुआ था। वे उस समय बम्बई से कलकत्ता-मेल द्वारा कलकत्ता जा रहे थे। उन दिनों मैं नागपुर के एक महाविद्यालय में पढ़ता था और रामकृष्ण मठ के छात्रावास में रहता था। जब मैं दीपावली के अवकाश पर वर्धा जिले में स्थित अपने गाँव गया तब पूज्य गंगाधर महाराज (स्वामी अखडानन्दजी) नागपुर पधारे थे और उन्होंने मठ में चार दिन वास किया था। उस समय वह आश्रम बहुत छोटा था—केवल एक ही भवन जिसमें एक हॉल, एक छोटा कमरा और उससे लगा हुआ मंदिर। वास्तव में वह एक 'रिट्रीट' की भाँति था। नाना प्रकार की असुविधाओं के होते हुए भी स्वामीजी वहाँ चार दिन ठहरे क्योंकि वे नागपुर मठ के तत्कालीन अध्यक्ष, श्रीमत् स्वामी भास्करेश्वरानन्दजी से बहुत स्नेह करते थे।

मुझे गाँव में समाचार मिला कि मैं नागपुर जाकर स्वामी अखण्डानन्दजी महाराज के दर्शन करूँ और उनसे दीक्षा लूँ। किन्तु मैं समय पर नहीं जा सका और जब मैं नागपुर पहुँचा तो ज्ञात हुआ कि वे बम्बई के लिए रवाना हो चुके हैं। मठ में तो उन्होंने केवल एक महिला को मंत्र दीक्षा दी थी। (वह स्त्री स्वामी निखिलेश्वरानन्दजी, जो नागपुर मठ के अध्यक्ष की सहायता करते थे, की एक रिश्तेदार थी।) छात्रावास में मेरे अतिरिक्त तीन और विद्यार्थी रहते थे—उनकी भी वहाँ दीक्षा नहीं हुई और उन्हें कहा गया था कि वे सारगाछी जाकर, जहाँ महाराजजी निवास करते थे, उनसे दीक्षा लें।

बचपन से ही मुझे साधु-सन्तों के दर्शन करना बहुत भाता था और इस कारण मैंने बहुत से साधुओं को देखा था। किन्तु जब मैंने स्वामी अखण्डानन्दजी महाराज को पहली बार देखा तो मुझे लगा कि वे उन सब से भिन्न प्रकार के हैं। सर्वप्रथम तो उनके नेत्रों ने मुझे आकृष्ट किया और वे स्वयं बड़े सीधे-सादे प्रेमी महात्मा थे। केवल २० मिनटों की उस छोटी-सी मुलाकात ने, जो उनके बम्बई से कलकत्ता लौटते समय रेलवे स्टेशन पर हुई थी, मेरा मन मोह लिया था और अपने लिए मेरे हृदय में एक स्थायी स्थान बना लिया था। उनसे मिलने के बाद ही मैं समझ सका था कि धर्म वास्तव में क्या हैं। उन्होंने कृपाकर के हमको क्रिस्मस के अवकाश में सारगाछी जाकर उनसे दीक्षा लेने की अनुमति दे दी। तदानुसार हम नागपुर के चारों विद्यार्थी निर्धारित समय पर हावड़ा स्टेशन पर पहुँच गये और वहाँ देखते हैं कि हमारे लिए श्री विभूति बैनर्जी (जो कि आगे चलकर स्वामी निरामयानन्दजी हुए।) हमारी राह देख रहे हैं। उन्होंने हमारी आगे की यात्रा—हावड़ा से सारगाछी—की व्यवस्था कर दी और हम गन्तव्य स्थान पर शाम तक पहुँच गये।

आश्रम में स्वामी अखण्डानन्दजी महाराज हमसे मिले और हमारे ठहरने के लिए उन्होंने एक

कमरा दे दिया। दूसरे दिन प्रातःकाल उन्होंने हमारी कुशल-क्षेम पूछी और हम चारों के साथ बड़ी आत्मीयता के साथ व्यवहार किया। हमें ऐसा लगा कि मानों वे हममें से ही एक है। जहाँ तक मुझे याद है, हमारी दीक्षा का दिन उन्होंने २४ दिसम्बर तय किया।

अब बाबा (स्वामी अखण्डानन्द जी को प्यार से बाबा कहा जाता था) का वास्तविक स्वरूप हमको धीरे धीरे देखने को मिला। चौबीस तारीख की सुबह को मैंने स्नान किया और दीक्षा के समय बाबा को माला पहनाने के लिए आश्रम के बगीचे में से कुछ अच्छे पुष्प तोड़े। फिर जब मैं माला बना रहा था तब उन्होंने देख लिया और मेरे पास आकर पूछा कि मैं क्या कर रहा हूँ। मैंने उत्तर दिया कि मेरे गुरुदेव के लिए एक सुन्दरसी माला बना रहा हूँ। इस बात पर वे कुछ क्षुब्ध होकर बोले, "यह बगीचा मेरा नहीं हैं। जो कुछ भी तुम यहाँ देख रहे हो, वह सब श्रीरामकृष्ण का है" आगे उन्होंने आदेश दिया कि मैं उस माला को बनाना बन्द कर दूँ और दूसरे पुष्प तोड़कर ठाकुर के लिए एक नयी माला बनाऊँ।

बाद में मेरी समझ में आया कि बाबा में गुरुभाई का भाव कतई नहीं था न ही उन्हें यह बोध था कि उस आश्रम के मालिक हैं। वे तो अपने-आप को हमेशा वहाँ का केवल 'मैनेजर' मानते थे। मैंने मन में सोचा—'क्या यह सम्पूर्ण निरहंकारी अवस्था नहीं है जिसमें 'मैं' और 'मेरा' का पूर्णतया लोप हो गया हो? "ठाकुर जैसे सदैव कहते थे "नाहम्, नाहम्···तुहू, तुहू'., अर्थात्, 'मैं और मेरा कुछ नहीं···सब कुछ तुम और तुम्हारा (ईश्वर का)। बाबा भी इसी प्रकार से सदा निरभिमान, पूर्ण ज्ञानी की अवस्था में रहते थे—वे सर्वदा 'श्रीरामकृष्ण का सेवक' के भाव में रहते थे। यह स्पष्ट रूप से मुझे विदित हो गया जब मैंने प्रस्थानत्रय पढ़ा और उनका मर्म समझा। केवल बाबा ही नहीं किन्तु ठाकुर के सभी पार्षद उन्हीं में (ठाकुर में) अवस्थित रहते थे—उनकी अपनी कोई पृथक सत्ता नहीं थी। वे सब अच्छी तरह जानते थे कि भुवनमोहिनी महामाया 'मैं और मेरा' के द्वारा अपना विश्व-प्रपंच रचती है—अपना खेल खेलती है। उसके भुलावे में आकर हम सब अपना असली स्वरूप भूल जाते है और 'माया-बद्ध' होकर न जाने क्या-क्या बन बैठते हैं—न जाने क्या-क्या 'अपना' कह कर एकत्र करने का भरसक और कभी-कभी हास्यास्पद प्रयास करते हैं।

अखण्डानन्दजी महाराज ने हम चारों को एक-एक कर के ठाकुर घर के बगल वाले कमरे में दीक्षा दी। उनका प्रभाव इतना प्रबल और स्थायी था कि आज भी, इतने वर्षों के बाद, मुझे ऐसा अनुभव होता है कि वे मेरे सम्मुख बैठे हुए हैं और मुझे आध्यात्मिक जीवन सम्बन्धी उपदेश दे रहे हैं और अभिमंत्रित कर रहे हैं। उन्होंने मेरे सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया और मेरा आलिंगन किया। वह एक सचमुच अद्वितीय अनुभव था यद्यपि उस समय में उसका पूरा महत्त्व नहीं समझ पाया था।

एक दिन संध्या के समय जब हम बाबा के पास बैठे थे तब उन्होंने एक ब्रह्मचारी (जहां तक मुझे याद है उसका नाम विवेक था) को आवाज दी। विवेक उस समय ठाकुर घर में जप-ध्यान कर रहा था। बुलाने पर वह झल्लाकर आया और बोला "मैं जप कर रहा था और आप आवाज दे रहे थे।" तब बाबा ने दूसरे ब्रह्मचारी (सम्भवतः गोविन्द) को बुलाया। वह भी बहुत नाराज होकर आया और उसने भी वही बात कही जो पहले वाले ब्रह्मचारी ने कही थी।

बाबा ने दोनों को शान्तिपूर्वक समझाया—

"तुम जप-ध्यान कर रहे थे और बुलाने पर इतना बिगड़े। क्या यह तुम्हारा गुस्सा होना तुम्हारे जप-ध्यान का नतीजा है ? यदि ऐसा है तो ना तो वह जप है न ध्यान।" तत्पश्चात् अखण्डानन्दजी महाराज ने उन दोनों को संध्या में मंदिर संबंधी कार्यों में लगा दिया, जैसे दिया-बत्ती जलाना इत्यादि।

मुझे ऐसा लगा जैसे कि उस घटना में साधकों के लिए यह एक बड़ा सबक है। हमारे धार्मिक क्रिया-कलापों का परिणाम शान्ति, प्रेम, सद्भावना, सहनशीलता आदि होना चाहिए न कि क्रोध, उत्तेजना, घृणा इत्यादि। उसने शास्त्रों के उस सत्य को उजागर कर दिया कि यदि हमारे पास काम, क्रोध, मोह, अंकार, ईर्ष्या, द्वेष आदि दुर्गुण हैं तो ईश्वर हमसे बहुत दूर हैं···चाहे कितना ही पूजा-पाठादि या जप-ध्यान हम क्यों न करें।

एक अन्य दिन बाबा ने मुझको कुछ सब्जियाँ काटने को कहा। मैंने तो वह कार्य कभी किया नहीं था फिर भी उनके आदेश का पालन तो करना ही था। हंसुआ बहुत बड़ा और तेज धार वाला था, इस कारण मेरी उँगली कट गयी और उससे खून बहने लगा। बाबा ने नह देख लिया और एक सेवक को उँगली पर दवा लगाकर पट्टी बाँधने को कहा। फिर मुझ से उन्होंने कहा—"मैंने तो तुम्हें सब्जी काटने को कहा था और तुमने उँगली काट ली ! हर काम ध्यान से करना चाहिए अन्यथा वह कर्मयोग के स्थान पर 'कर्म भोग' हो जाता है—ऐसे किये हुए काम का दुष्परिणाम भोगना पड़ता है। जो भी कार्य करो—चाहे वह छोटे-से-छोटा या बड़े से बड़ा हो—उसे पूरा एकाग्रचित्त हो कर करो—उसमें रुचि लेकर करो।" आखिरकार 'योगः कर्मसु कौशलम्' का तात्पर्य केवल निष्काम कर्म ही नहीं है अपितु उसके साथ-साथ उसे सही ढंग से करना—कुशलता के साथ—भी ! कर्मयोग का यह मर्म बाबा की कृपा से धीरे-धीरे मेरी समझ में आ गया।

तत्पश्चात् एक अन्य दिन उन्होंने हमसे पूछा कि क्या हम भोजन बनाना जानते है। मैंने अपने लिए कहा कि हाँ मैं जानता हूँ, और शाम को मराठी कढ़ी और एक सब्जी बनाई। जब वे भोजन कर रहे थे उस समय मैं उनके पास था। उनको मेरी बनाई हुई कढ़ी और सब्जी पसन्द आई और—शायद मुझे प्रोत्साहित करने के लिए—उनकी प्रशंसा भी की। मैंने मौका देखकर उनसे प्रार्थना की। "बाबा, हम बहुत दूर से आये हैं और आपने हमको दीक्षा दी है। ठाकुर ने आपको आशीर्वाद दिया था—अब मेरी बिन्ती है कि आप भी मेरे सिर पर हाथ रख कर आशीर्वाद दें कि मुझे मुक्ति मिल जाय।"

यह सुनकर बाबा कुछ देर चुप रहे, फिर वे बोले : "अच्छा अब मैंने पेट भरकर भोजन कर लिया है। मैं तुम्हारे सिर पर दोनों हाथ रखता हूँ और कामना करता हूँ कि तुम्हारा पेट यूँ ही भर जाए।"

मैंने कहा, ऐसे कैसे हो सकता है महाराज ? मुझे अपना भोजन स्वयं ही करना पड़ेगा तभी जाकर मेरी भूख मिटेगी।" बाबा बोले, "वही बात आध्यात्मिक क्षेत्र में भी लागू होती है। हमारा आशीर्वाद तो सदैव ही तुम्हारे साथ है किन्तु तुमको साधना कर के उसका पूरा लाभ उठाना होगा। पुरुषार्थ और गुरुकृपा दोनों मिल कर तुमको मुक्ति दिलायेंगे।"

हम चारों विद्यार्थी बाबा के साथ दस दिन तक थे। उस समय भक्तों की भीड़ न होने के कारण हमें उनका पूरा सान्निध्य प्राप्त हुआ।

हमें ऐसा लगा कि मानो बाबा हमारे ही हैं और हम बाबा के।

सारगाछी आश्रम में कुछ अनाथ बालक रहते थे। उन्हें अखण्डानन्दजी महाराज अपने बच्चों के समान प्रेम करते थे। वे सब भी उन्हें प्यार से 'बाबा' (अर्थात् पिता) कहकर पुकारते थे।

एक दिन एक बालक ने मेरे बटुए में से कुछ पैसे चुरा लिए। मैंने इसकी बाबा से शिकायत की। वे कुछ चिन्तित हो गए और बोले : "इसको तुम एक दूसरी दृष्टि से भी देखने का प्रयास करो। ये अनाथ बालक सड़कों पर बगैर कोई सहारा मारे फिर रहे थे और उनको यहाँ लाया गया। तुम्हारे तो माता-पिता हैं—वे तुम्हारी सब जरूरतें पूरी करते हैं। इन लड़कों को भी कोई छोटी-मोटी इच्छाएँ हैं—तुम्हारे पास उनको पूरा करने का सामर्थ्य है, इनके पास नहीं। इस कारण अपनी किसी इच्छा की—पूर्ति के लिए उस लड़के ने तुम्हारे बटुए में से पैसे लिए होंगे। यदि तुम स्वयं ही अपने हाथों से उन बालकों को कुछ दे दिया करो तो वे सब तुम्हारे मित्र बन जायेंगे।" कितनी व्यवहारिकता, कैसा रचनात्मक दृष्टिकोण था उनका! उन अनाथ बच्चों की देख-भाल स्वामीजी किसी पर न छोड़कर खुद ही करते थे। वे उस कार्य को ठाकुर की ही सेवा मानते थे। शिव भाव से जीव सेवा, नर में नारायण को देखने का उत्कृष्ट उदाहरण अन्यत्र हमको वहाँ देखने को मिला।

एक बात और स्मरण हो आती है बाबा के संबंध में। जब भी वे हमको उपदेश देते थे तो उनकी दृष्टि हम पर न होकर ऊपर की ओर रहती थी—जैसे वे और किसी को लक्ष्य करके बोल रहे हों।

नागपुर आश्रम से स्वामी अखण्डानण्दजी महाराज का विशेष लगाव था। वहाँ के महन्त स्वामी भास्करेश्वरानन्दजी ने श्री माधव राव गोलवलकर और श्री आर० धोंगढ़ी को उनसे दीक्षा लेने के लिए सारगाछी भेजा था। ये दोनों वकालत पास थे और अपने-अपने परिवार के एक-मात्र पुत्र थे। श्री माधव राव गोलवलकर सारगाछी आश्रम में लगभग ६ महीने तक रहे और बाबा के अन्तिम क्षण तक उनकी सेवा की। और वैसे भी बाबा उनको छोड़ते भी नहीं थे। उनकी (अर्थात् नागपुर बाबा की) महासमाधि के बाद ही श्री गोलवलकर नागपुर वापस आये और फिर राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के सरसंचालक बने। कहना न होगा कि सारगाछी आश्रम में हमारे वे दिन बहुत आनन्द में बीते और उसे छोड़ते समय हम सबको बहुत दुःख हुआ। अभी भी मुझे तो ऐसा महसूस होता है कि बाबा हमारे बीच हैं—हमारे साथ हैं और अदृष्य रूप से हमें प्रेरित करते हैं।

सारी शिक्षा का ध्येय है—मनुष्य का विकास।

कोई भी ज्ञान बाहर से नहीं आता, सब अन्दर ही है।

मन की एकाग्रता ही समस्त ज्ञान का उत्स है।

—स्वामी विवेकानन्द

स्वामी विवेकानन्द की स्मृतियाँ

—स्वामी सदाशिवानन्दजी
अनुवादक— श्रीरामकुमार गौड़, (वाराणसी)

सेवाश्रम के कार्य में व्यस्त रहने के कारण वह युवक स्वामीजी के भोजन करने के समय प्रायः नहीं आ पाता था। स्वामीजी को नियमित रूप से नियत समय पर भोजन करना पड़ता था जिससे उनकी डायबिटीज की बीमारी बढ़ने न पाए। चिकित्सकों और उनके गुरुभाइयों ने उनसे अपने स्वास्थ्य पर विशेष ध्यान देने की प्रार्थना की और वे इससे सहमत भी हो गए थे किन्तु इस युवक के प्रति अपने मातृवत् प्रेम के कारण वे उनकी सारी अनुनय-विनय एवं अपने स्वास्थ्य को भूल गए। भोजन के पूर्व वे चिन्तित होकर युवक के बारे में पूछते और उसकी प्रतीक्षा करते। वे अधीर होकर फर्श पर टहलते और किसी भी क्षण उसके वहाँ आने की आशा से सड़क और दरवाजे की ओर देखते। यदि उनसे कोई मिलता वे तुरन्त उससे पूछते, "क्या वह आ गया ? बेचारा लड़का ! आज उसे इतनी देर क्यों हो गई ? वह बहुत दुर्बल है और अभी तक कुछ खाया नहीं। इतना छोटा एवं दुर्बल और उसे इतना अधिक काम करना होता है।" अन्ततः जब वह लड़का जल्दी-जल्दी आता तो फिर एक बार स्वामीजी के चेहरे का रंग बदल जाता था। उनका चेहरा उस माँ के प्रसन्न और संतुष्ट मुखमंडल की तरह चमक उठता था जो लम्बे समय के बाद अपने पुत्र से मिलती हैं। मुस्कराते हुए वे बालक से पूछते, "क्यों, मेरे बच्चे ! इतनी देर क्यों ? मैं जानता हूँ कि तुम बहुत व्यस्त थे। परन्तु क्या तुमने सुबह नाश्ता किया ? देखो, मैंने भोजन नहीं किया क्योंकि मैं तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा हूँ। आओ, मेरे बेटे, हाथ-पैर धो लो; हम लोग जल्दी से भोजन करने चलें। बड़ी देर हो गई है, तुम जानते हो, मेरी तबीयत ठीक नहीं है। यदि मैं समय से भोजन न करूँ तो मेरी बीमारी बढ़ जाएगी। इसलिए थोड़ा जल्दी आने की कोशिश करो। किन्तु, मेरे बच्चे, कार्य की अधिकता से तुम्हें देर हो जाती है, मैं इसे जानता हूँ, मैं इसे जानता हूँ।"

वह युवक स्वामीजी के पीछे-पीछे जाता और दोनों अन्य लोगों के साथ बैठ जाते। परन्तु खाते समय वे बच्चे के ऊपर सतर्क दृष्टि रखते और जो कुछ उन्हें स्वादिष्ट और अच्छा लगता, उसे अपनी प्लेट से वे उस युवक को दे देते। दूसरे यह देखते कि स्वामीजी मुश्किल से ही कोई चीज खा रहे थे, अपितु वे बच्चे को भोजन करते हुए स्नेहपूर्वक सावधानी से देख रहे थे। वे लोग कभी-कभी स्वामीजी से विनती करते, "कृपापूर्वक कुछ आप भी खाइए। आप आज कुछ भी नहीं खा रहे हैं।" लेकिन इसे कौन सुनता ? स्वामीजी स्वयं को भूल चुके थे, उनके लिए वह लड़का गोपाल था।

एक दिन सायंकाल स्वामीजी एक चारपाई पर बैठे तथा स्वामी शिवानन्दजी दूसरी चारपाई पर बैठे। कमरे में अनेक अन्य लोग भी थे जो चुपचाप दोनों महापुरुषों की मजेदार बातों और विनोद का आनन्द ले रहे थे। स्वामीजी एक

प्रसन्न बालक की मुखमुद्रा में चमकते हुए देवदूत की तरह थे। कमरे के चारो ओर आनन्दपूर्ण विनोद की भंवर एवं आवर्त की आशा में उनकी दोनों आँखें चमक रही थीं। स्वामीजी ने स्वामी शिवानन्दजी को सम्बोधित करते हुए कहा, "महाशय. आप क्या कहते हैं? तो आपकी राय में मैं राक्षसों का गुरु हूँ! बोलो, महापुरुष, क्या ऐसी बात नहीं है। अरे, क्या मैंने सही कहा है?" और पुनः वे जोर से हंसने लगे। अनेक प्रकार की मुखमुद्रा में वे और जोर से ठहाका लगाने लगे जिससे हवा चक्कर काटते हुए गुंजने लगी। हम लोग उनकी आनन्दपूर्ण मुद्रा को भय और श्रद्धा से देख रहे थे।

स्वामीजी की आंख की एक शिरा कुछ चोटिल हो गई थी जिससे उनकी नेत्र-ज्योति प्रभावित हो गई थी। इसीलिए उन्होंने शुक्राचार्य का रूपक दिया जिनके केवल एक आंख थी। अपरंच, स्वामीजी ने विदेशों में जाकर विदेशियों को अपना शिष्य बनाया। इसीलिए उन्होंने इसकी तुलना राक्षसों के एक आंख वाले गुरु से की। "हां, महाराज, यह निस्संदेह सत्य है।" ऐसा कहते हुए स्वामी शिवानन्दजी ने उनकी विनोदपूर्ण मुद्रा को बल प्रदान किया। यह सरल हास्य और परिहासपूर्ण आनन्द का वातावरण था। यह हंसी चारो तरफ फैल गई और हमलोग परमानन्द में सराबोर हो गए।

सामान्यतया धर्म के द्वारा हम लोग मलिन शरीर, बेढंगी मुखाकृति, खिन्न, उदास और विषादग्रस्त मुद्रा, दुबला-पतला शरीर, हास्यरहित, चिन्ताग्रस्त और शास्त्रों की कुछ बड़ी-बड़ी सूक्तियों के साथ एकाकी रहने वाले व्यक्ति की धारणा करते हैं। किन्तु स्वामीजी इस बात पर जोर देते थे कि स्वभाव की विनोदप्रियता और प्रसन्नता का बहुत महत्व है। वे प्रायः कहा करते थे, "विनोद बुद्धिमत्ता का लक्षण है।" और वे अपने इस कथन को अपने कार्यों में हास्य और प्रसन्नता को अभिव्यक्त करके प्रमाणित करते थे।

स्वामीजी के इस हर्ष और आनन्द से मैं एकदम भयभीत था और जब मैं चरण स्पर्श करने गया तो वे हंसी के ठहाके में बोले, "हो! हो! अच्छा तुम (एक वैष्णव) हो। ठीक है, तो जरा मैं देखूँ कि तुम एक सच्चे रामानुजी की तरह कैसे प्रणाम करते हो।" किसी दूसरे दिन उन्होंने ऐसा कहा होता, "अरे! नहीं, नहीं, मेरे बच्चे! इसकी कोई आवश्यकता नहीं।" परन्तु आज वे एकदम भिन्न मुद्रा में थे। स्वामी शिवानन्द ने मध्यस्थता करते हुए कहा, "उसे संधिवात (गठिया) हुआ है और उसके जोड़ कठोर हैं—इस बच्चे से इस तरह दंडवत् प्रणाम करने के लिए कहना निर्दयता होगी।" इस पर स्वामीजी ने कहा, "नहीं, वह तो कुछ भी नहीं है। मैं उसका इलाज करके ठीक कर दूँगा। आओ, मेरे बच्चे इच्छानुसार प्रणाम करो।" मैंने वैसा ही किया क्योंकि यह मेरी हार्दिक इच्छा थी जो कि अन्यथा उनकी अप्रसन्नता के भय से मुश्किल से ही पूरी हो पाती।

वार्तालाप के इसी वातावरण में एक ब्रह्मचारी ने आकर बताया कि केदारनाथ मंदिर के महन्त वैयक्तिक साक्षात्कार के लिए आए हैं। स्वामीजी का चेहरा तुरन्त गम्भीर हो गया और उनकी आकृति शानदार थी। महन्तजी दूसरे कमरे में थे। स्वामीजी ने स्वामी शिवानन्दजी के साथ कमरे में प्रवेश किया और हम लोग उनके पीछे-पीछे गए। केदारनाथ मन्दिर के पूज्य महन्तजी ने 'नमो नारायणाय' कहा और संस्कृत में एक भक्ति-परक स्तुति का गान किया। महन्तजी दक्षिण भारतीय भाषा में बोले और एक सिंहली संन्यासी ने अँग्रेजी में उसका भावार्थ बताया तथा स्वामीजी ने भलीभाँति उसका उत्तर दिया। महन्तजी ने

कहा, "स्वामीजी, आप शिव के अवतार हैं। आप मानवजाति की मुक्ति के लिए आए हैं। यूरोप और अमेरिका में प्रकट हुई आपकी आश्चर्यजनक शक्ति सभ्यता के इतिहास में अद्वितीय है। आपने पाश्चात्य लोगों के सम्मुख प्राच्य की पताका को ऊँचा किया और प्रत्येक हिन्दू और संन्यासी अपने को गौरवान्वित अनुभव करता है। आप द्वारा की गई वेदों के महान सत्यों की व्याख्या और शिक्षा तथा उसके सार्वभौमिक अनुप्रयोग ने हम संन्यासियों और सामान्यतः सभी हिन्दुओं को आपका बहुत ही आभारी बना दिया है।" श्वेत केशों वाले अस्सी वर्षीय महन्तजी, जिनके ज्ञान और आध्यात्मिक सिद्धि की स्थिति उनकी आयु के समान ही उच्च थी, इस तरह बोलते रहे। स्वामीजी प्रकटतः भावविह्वल हो गए और नम्रता से बोले, "महाराज में अधिक कुछ नहीं कर सका। जो थोड़ा कार्य हुआ है, वह सब ईश्वर की कृपा से हुआ है। यह सब उन्हीं की इच्छा और प्रभाव है और यदि इसमें कुछ महानता है तो उससे मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। यह शरीर केवल उनका यंत्र और माध्यम बना है, बस यही सब कुछ है। अपने साधुजीवन से आप प्राचीन काल के ज्ञान का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। आप श्रेष्ठ ज्ञान से प्रकाशित हैं। यदि आप जैसे संत मुझे आशीर्वाद दें और मेरे ऊपर कृपा करें तो ऐसे बहुत से और कार्य भी मेरे लिए एकदम कठिन नहीं होंगे। फिर आप तो केदारनाथ के महन्त हैं। आप ही शिव के अवतार हैं। मैं तो केवल एक अतिसाधारण व्यक्ति हूँ।" महन्तजी ने फिर कहा, 'जब आप सेतुबन्ध रामेश्वरम् से उतर की ओर बढ़ रहे थे तो वहां हमारे मठ के प्रमुख केन्द्र से साधुओं और कुछ अन्य लोगों के साथ एक पालकी आपको सम्मानपूर्वक मठ में लाने के लिए भेजी गई थी। किन्तु आप बहुत क्लान्त और थके हुए थे क्योंकि अपार जनसमुदाय आपके दर्शन के लिए आया था, इसलिए आप हमारा निमंत्रण स्वीकार नहीं कर सके। हमारे मठ के साधु और महात्मा इससे बहुत दुखी थे और इस दुख को हल्का करने के लिए उन्होंने आपको यहाँ (वाराणसी में) मठ एवं मंदिर में बुलाने के लिए तथा अपने अनुगतों के साथ कम से कम एक दिन मंदिर में भिक्षा ग्रहण करने का निवेदन करने हेतु तार भेजा है।" वृद्ध एवं पूज्य महन्तजी को इस विनम्र प्रार्थना ने स्वामीजी को मानो एक छोटा बालक बना दिया और उन्होंने बहुत ही विनय पूर्वक उत्तर दिया, "यदि आपकी ऐसी इच्छा थी, तो आप मुझे बुलवा लेते या अपने अनुरोध के साथ किसी को भेज देते और मैं खुशी से आपके निमंत्रण को स्वीकार कर लेता तथा आपको स्वयं यह सब कष्ट नहीं उठाना पड़ता। मैं निश्चय ही चलूंगा।" अगले दिन प्रातःकाल लगभग दस या ग्यारह बजे स्वामीजी, स्वामी शिवानन्द और कुछ अन्य लोग केदारनाथ मंदिर के महन्तजी के मठ में गए।

श्रीलंका से आए हुए एक बौद्ध संन्यासी तब उस मठ में रह रहे थे। उन्होंने स्वामी विवेकानन्द जी से पूछा, "महाराज, क्या संसार के सभी धर्मों ने सिद्ध महात्माओं को उत्पन्न किया है।" स्वामीजी ने इसका न सिर्फ सकारात्मक उत्तर दिया अपितु अनेक दृष्टान्तों के साथ इस पर बल दिया। स्वामीजी ने आगे कहा, "यहाँ तक कि निन्दित वामाचार तन्त्र में भी महान सिद्ध हुए हैं। परन्तु आप जानते हैं कि हमारे गुरुमहाराज (श्रीरामकृष्णदेव) कहा करते थे कि वह एक मलिन मार्ग है।" ऐसा लगा कि स्वामीजी के उत्तर से भिक्षु आश्वस्त हो गया। तब महन्त महाराज ने सभी को तृप्तिपूर्वक भोजन कराया।

अपराह्न में महन्तजी स्वामीजी को दूसरे कक्ष

में ले गए जहाँ उनके गुरु और पूर्ववर्ती संतों के चित्र थे। महन्तजी ने उनके नाम और गुणों का वर्णन किया। फिर वे दो गेरुआ वस्त्र लेकर आए और एक को स्वामीजी के गेरुआ अधोवस्त्र के ऊपर आवृत कर दिया और दूसरे से उनको शरीर को ढक दिया। महन्तजी बहुत ही प्रसन्न मुद्रा में थे और बोले, "आज मैंने एक सच्चे दंडी संन्यासी (वेदान्ती) को भोजन कराया है।

तदुपरान्त महन्तजी की प्रार्थना पर स्वामीजी और अन्य लोग केदारनाथ मन्दिर में गए। स्वामीजी के सम्मान में श्रीकेदारनाथजी की आरती की गई, हालांकि वह नियमित आरती का समय नहीं था। परन्तु मन्दिर के बाहरी हिस्से जहां शिवलिंग के सामने गंगाजी की ओर अभिमुख नन्दी (बैल) है, में प्रवेश करते ही स्वामीजी समाधि में डूब गए और शान्त, निश्चल तथा बाह्यज्ञानशून्य होकर दरवाजे पर खड़े रहे। वे एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सके और मूर्तिवत् वहाँ खड़े रहे। उनके मोजे गीले हो जा रहे थे किंतु कोई भी उन्हें उतारने के लिए आगे नहीं बढ़ा क्योंकि वहाँ सभी लोग एक ऐसे अन्तर्प्रदेश में प्रविष्ट हो गए थे जहाँ पहुँचकर बाह्य जगत और उसके क्रियाकलाप स्वतः विलुप्त हो जाते थे। श्रीरामकृष्णदेव कहा करते थे, "नरेन्द्र के शरीर के भीतर शिव हैं।" वे यह भी कहते थे कि स्वामीजी उन सप्तर्षियों में से एक थे जो उनकी आज्ञा से पृथ्वी पर आए थे। हमलोगों ने स्वामीजी के इस आन्तरिक व्यक्तित्व को अपने सम्मुख प्रकट होते देखने का विशेषाधिकार प्राप्त किया था। वहां उपस्थित प्रत्येक व्यक्ति ईश्वरीय सत्ता का दर्शन और अनुभव कर रहा था।

जब हम लोग मंदिर के बाहर आए, स्वामीजी उस समय भी ईश्वरीय भावावेश की अवस्था में थे। हमलोग सावधानीपूर्वक धीरे से बाहर आए और स्वामी शिवानन्द ने स्वामीजी को एक खुली गाड़ी में सतर्कतापूर्वक बैठाया जिससे कहीं फिसलकर उन्हें चोट न लग जाय। गाड़ी धीरे-धीरे आगे बढ़ी और क्रमशः स्वामीजी सामान्य अवस्था में आए। जब गाड़ी एक छत्र (साधुओं को मुफ्त भोजन कराने का स्थान) के निकट से गुजरी तो स्वामीजी टूटी-फूटी तमिल में "नाट-काट-चेट्टी" कहकर बच्चों की तरह बोल उठे।

(क्रमशः)

★

गुरु-कृपा

शंकराचार्यजी जब काशी में थे तब शिव उनके पास चाण्डाल का वेष रखकर आये। शंकराचार्य ने उन्हें दूर हटने को कहा, तब शिव बोले, तुम किसे दूर हटने को कह रहे हो, इस पंच भूतात्मक शरीर को या इसमें व्याप्त चैतन्य को? क्योंकि देह दृष्टि से तुम्हारी व मेरी देह में कोई भिन्नत्व नहीं है और न चैतन्य दृष्टि से ही है—फिर दूर क्या हो? तब शंकराचार्य बोले, 'जिसकी ऐसी चैतन्य निष्ठा हो, वह तो मेरा गुरु ही है।'

तिलक और विवेकानन्द के सम्बन्ध

(मूल मराठी स्रोतों पर आधारित)

—डा० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा
पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष, राजनीति शास्त्र विभाग
पटना विश्वविद्यालय, पटना।

लोकमान्य तिलक और स्वामी विवेकानन्द के व्यक्तिगत सम्बन्ध पारस्परिक सम्मान और समादर के भाव से लक्षित किये गये थे। सन् १८९२ ई० में तिलक रेलगाड़ी की द्वितीय श्रेणी के डिब्बे में अपना आसन ग्रहण कर बम्बई से पूना वापस लौट रहे थे। कुछ गुजराती भी जो स्वामी विवेकावन्द के साथ आये थे, उसी डब्बे में आसीन हुए। उन गुजरातियों ने तिलक को स्वामीजी का परिचय दिया और स्वामीजी से उनके साथ ही ठहरने का अनुरोध किया। पूना में अपने आवास गृह में पहुँचने के उपरान्त तिलक ने स्वामी जी को एक पृथक् कमरा प्रदान किया।[1] वे आठ से दस दिनों तक पूना में ठहरे। उनकी निजी सामग्रियाँ गणना में बहुत कम थीं। वे अधिक काल चुप ही रहा करते थे किन्तु वे और तिलक कुछ समस्याओं पर विचार-विमर्श किया करते थे। एक बार तिलक स्वामीजी को हजारीबाग क्लब की सभा में अपने साथ ले गये। उस दिन स्वर्गीय काशीनाथ गोविन्द नाटु ने अध्यात्म सम्बन्धी एक विवादास्पद विषय का उपस्थापन किया। तिलक ने स्वामीजी से इस विषय में भाग लेने का अनुनय किया और स्वामीजी पूरे एक घन्टे तक बोले। उनका व्याख्यान स्मरणीय एवं विलक्षण था। इसके उपरान्त नगर के निवासी उनसे मिलने आने लगे और उन्होंने (स्वामीजी ने) गीता और उपनिषदों पर प्रवचन दिये। गीता तिलक की प्रिय-आदृत पुस्तक थी और दो या तीन बार दोनों महापुरुषों ने गीता पर विचार-विमर्श किये थे। तिलक यह जानकर परम प्रसन्न थे कि स्वामी विवेकानन्द भी स्वीकारते थे कि भगवद्गीता का मुख्य प्रतिपाद्य कर्मयोग है।[2] अब अधिक लोग स्वामीजी के दर्शनार्थ आने लगे तब उन्होंने विदा लेनी चाही और वहां से एक दिन चले गये। १८९३ ई० में स्वामी विवेकानन्द और तिलक, दोनों ने अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति पायी। शिकागो की धर्म-सभा में स्वामी विवेकानन्द द्वारा दिये गये व्याख्यानों ने उन्हें विख्यात कर दिया। और १८९३ में 'दि ऑरिऑन (मृगशिरा नक्षत्र) के प्रकाशन से तिलक ने सम्पूर्ण विश्व के प्राच्य भाषाविदों में एक सनसनी उत्पन्न कर दी।

जब स्वामी विवेकानन्द सन् १८९६ ई० में पश्चिमी जगत् से लौटे तब तिलक ने उन्हें पत्र लिखा और पूना आने का आग्रह किया। उन दिनों विवेकानन्द अत्यन्त व्यस्त थे अतः उन्होंने कुछ दिनों के उपरान्त पूना आने का वचन दिया। किन्तु किसी कारण से यह योजना कार्यान्वित नहीं हो पायी। सन् १९०१ के कलकत्ता कांग्रेस के उपरान्त तिलक विवेकानन्दजी से मिलने बेलुड़ मठ गये और उस स्थल को देखकर आह्लादित हुए।[3] यद्यपि विवेकानन्द देहाती थे, तथापि सामाजिक, शैक्षणिक और सांस्कृतिक समस्याओं जैसी विभिन्न प्रकार की धाराओं में उनकी गहरी रुचि थी। विवेकानन्द ने तिलक को संसार का परित्याग करने और अपनी समस्त ऊर्जाओं को लोक-शिक्षा और धार्मिक पुनर्जागरण के कार्य में

अर्पित करने का अनुरोध किया। किन्तु तिलक ने दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया कि वे वैराग्य का पंथ कभी नहीं ग्रहण करेंगे। जो भी सामाजिक और मानवीय कार्य उन्हें करने हैं, उन्हें वे संसार में रहकर और गृहस्थ की तरह जीकर करेंगे।[4] तिलक और विवेकानन्द ने भारत की राजनीतिक समस्याओं पर भी विमर्श किया और ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने अनुभव किया कि राष्ट्र की राजनीति नीति, स्वसाहाय्य तथा सहिष्णु-प्रतिरोध के दर्शन पर आधारित होनी चाहिए। विवेकानन्द-जी ने तिलक-दल को उपहार प्रदान किये और इस सम्मिलन ने दो महापुरुषों के पारस्परिक स्नेह और समादर का संवर्द्धन किया।

जुलाई १९०२ में स्वामी विवेकानन्द ने महा-समाधि ली। ८ जुलाई को तिलक ने 'केसरी' में श्रद्धांजलि मूलक एक लेख लिया।[5] उस लेख में उन्होंने स्वामीजी द्वारा की गयी उन महत्तम सेवाओं का स्मरण किया जिनके द्वारा उन्होंने (स्वामीजी ने) पश्चिमी जगत् के समक्ष हिन्दू अध्यात्मविद्या के कोषागार को उपस्थित किया था। अद्वैत दर्शन के ज्ञान का विश्वव्यापी प्रचार करने की विवेकानन्द की पहले से ही कल्पना थी। तिलक ने अपने लेख में रामकृष्ण मठ के संन्यासियों द्वारा १८९६-९७ के दुर्भिक्ष में राजपुताने में की गयी सेवाओं का उल्लेख किया। उन्होंने १९०० ई० में पेरिस में दिये गये स्वामी विवेकानन्द के व्याख्यान का भी उल्लेख किया। उन्होंने धर्म और वेदान्त-दर्शन के प्रचार में स्वामीजी की प्रकाण्ड विद्वत्ता, वाग्मिता, उत्साह और अध्यवसाय का स्मरण किया। तिलक ने निश्छल भाव से स्पष्टतापूर्वक कहा कि सर्वप्रथम आचार्य शंकर ने हिन्दू धर्म के सुदृढ़ीकरण एवं प्रचार का कार्य-भार अपने ऊपर लिया। विवेकानन्द दूसरे व्यक्ति थे जिनकी वैसी ही कल्पना[6] थी, किन्तु अपने असामायिक शरीर-त्याग के कारण वे अपना कार्य नहीं कर सके। तिलक ने भारत के अपनी प्राचीन राजनीतिक शक्ति और गरिमा के खो देने पर खेद प्रकट किया। केवल प्राचीन धर्म ही एक पवित्र दाय की भाँति बचा रह गया है। आधुनिक विश्व प्रतियोगिता का विश्व है और तिलक के अनुसार धर्म और दर्शन के हमलोगों के विशाल कोष को बुद्धिजीवियों के समक्ष उपस्थित करना आवश्यक है। तिलक ने विवेकानन्दजी के, जो निश्चय ही राष्ट्रीय आन्दोलन को गंभीर रूप से प्रभावित करते, असामयिक निधन पर दुःख प्रकट किया। उन्होंने यह आशा व्यक्त की कि स्वामीजी के अधूरे कार्य को पूर्ण करने का दायित्व अन्य लोग ग्रहण करेंगे। उन्होंने 'केसरी' में अपने श्रद्धांजलिमूलक लेख का समापन इस बात का उल्लेख करने के उपरान्त किया कि उन्होंने दो बार स्वामी विवेकानन्द से पूना आने का निवेदन किया था, किन्तु एक बार रुग्णता के कारण और दूसरी बार किसी अन्य कारणवश, स्वामी विवेकानन्द व्याख्यान देने पूना नहीं आ सके। तिलक ने प्रभु से प्रार्थना की कि दयालु परमात्मा अद्वैत मत में सभी धर्म के एकीकरण और एकातानता की उपलब्धि संभव करें।[7]

१. लोकमान्य तिलक के संस्मरण और उपाख्यान। (मराठी में, सम्पादक स० व बापट, पूना १९२८) खंड : ३, पृ० १३४-३५ २. कहा गया है कि तिलक ने कहा : "स्वामीशीं दोनतीन वेलां चर्चा केली आनी गीते चे सार व मर्म निष्काम कर्मयोग च आहे अशी मजप्रमाणें त्यांचीहि निष्ठा असल्यावद्दल माझी खात्री झाली।"— वही, पृ० १३५ ३. वही खंड २ : पृ० ४२२-४२३ ४. वही : खंड ३ : पृ० १३५-१३६ ५. केसरी में प्रकाशित तिलक के लेख का शीर्षक था "श्री स्वामी विवेकानन्द हे समाधिस्थ झाले।" ६. तिलक के मूल मराठी के शब्द इस प्रकार है। "हिंदुधर्मचें उज्ज्वल स्वरूप कोणतें; आशा प्रकारचा धर्म अमाच्या देशांत झाला हेंच आमचें अमूल्य धन व बल आणि त्याचा गर्व जगभर प्रसार करणें हेंच आमचें खरें कर्त्तव्य अशीं बोलणारे नव्हे तर जगास सिद्ध करून दाखविणारे सप्पुरुष हजार वाराणें वर्षांपूर्वी एक शंकराचार्य होउन गेले, व त्याशतकाच्या अखेरीस दूसरे स्वामी विवेकानन्द झाले। ७. 'सर्वधर्माचें अद्वैतमतांत एकीकरण करण्याचे श्रेय।"

विवेक चूड़ामणि

—ब्रह्मलीन स्वामी वेदान्तानन्द
अनुवाददक--स्वामी अमृतानन्द, वाराणसी

जीव भ्रान्तिवश स्वयं को स्थूल, क्षुद्र इत्यादि समझता है। परन्तु ये सभी गुण उसमें नहीं है, तथा ब्रह्म में भी नहीं है—अग्रिम श्लोक में श्रुति वाक्य द्वारा इसी विषय का वर्णन किया गया है :—

अस्थूलमित्येतदसन्निरस्य सिद्धं
स्वतो व्योमवद प्रतर्क्यम्।
अतो मृषामात्रमिदं प्रतीतं
जहीहि यत्स्वात्मतया गृहीतम्॥
ब्रह्माहमित्येव विशुद्धबुद्धया
विद्धि स्वमात्मानमखण्डबोधम्॥ २५०

'अस्थूलम्' इत्यादि श्रुतिवाक्य की सहायता से इस मिथ्या प्रपंच को अस्वीकार कर स्वतः सिद्ध, आकाश की भाँति सर्वव्यापी होने के कारण तर्कातीत अखण्डज्ञान रूप को 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार विशुद्ध बुद्धि की सहायता से जानो। चूँकि आत्मा स्वरूपतः शुद्ध ब्रह्म ही है, अतः इस प्रतीयमान देहादि प्रपंच में जो 'मैं' का अहंकार है, उस मिथ्या वस्तु मात्र को त्याग दो। २५०

व्योमवत् अप्रतर्क्य—आकाश सर्वदा एक रूप होता है, जिस कारण वह संशय रहित होता है। आत्मा भी सर्वदा आकाश की भाँति एकरूप होने के कारण तर्कातीत है।

'अस्थूलम्-अनणु-अह्रस्वम्-अदीर्घम्-अलोहित्तम्-अस्नेहम्—अच्छायम्—अतमोऽवायु-अनाकाशम्-असंगम्-अरसम-अगन्धम्-अच्क्षुस्कम-अश्रोत्रम्-अवाक्-अमनः-अतेजष्कम्-अप्राणम्-अमुखम्-अमात्रम्—अनन्तरम्—अवाध्यम्' (बृः ३।८।८ अमात्रम=परिमाण रहित। अनन्तरम्=अवकाश रहित।

मृत्कार्यं सकलं घटादि सततं मृन्मात्रमेवाखिलं
तद्वत्सज्जनितं सदात्मकमिदं सन्मात्रमेवासिलम्।
यस्माथास्ति सतः परं किमपि
तत्सत्यं स आत्मा स्वयं
तस्मात्त्वमसि प्रशान्तममलं
ब्रह्माद्वयं यत्परम्॥ २५१

मृत्तिका से उत्पन्न घटादि सभी वस्तुएँ घटादि विभिन्न वस्तु के रूप में प्रतीत होने पर स्वरूपतः ये सभी वस्तुएँ मृत्तिका मात्र ही हैं—मृत्तिका से भिन्न कुछ नहीं है। इसी प्रकार दृश्यमान अखिल जगत सद्वस्तु से ही उत्पन्न होता है, सद्वस्तु में ही उसकी स्थिति है, एवं स्वरूपतः नित्य सत्य ब्रह्म वस्तु मात्र ही है। चूँकि सत् से भिन्न द्वितीय किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है, अतः सत् स्वरूप ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है तथा वही सत् सबकी आत्मा है। इसलिए प्रशान्त, निर्मल, कार्य और कारण से भिन्न अद्वितीय जो ब्रह्म वस्तु है, वह तुम्हीं हो। २५१

सतत्=उत्पत्ति से पहले, उत्पन्न होकर वर्तमान रहने की स्थिति तथा विनाश के पश्चात—इन तीनों काल में ही।

निद्राकल्पितदेश काल विषय ज्ञात्रादि सर्वं यथा
मिथ्या तदवदिधपि जाग्रति जगत्स्वाज्ञानकार्यत्वतः।

यस्मादेवमिदं शरीरकरण प्राणाभिमानात्मकम्
तस्मात्तत्त्वमसि प्रशान्तममलं
ब्रह्माद्वयं यत्परम् ॥ २५२

स्वप्न काल में दृष्ट देश, काल, विषय एवं इन सबका ज्ञाता आदि सब कुछ जिस प्रकार मिथ्या होता है, उस प्रकार जाग्रत काल में अनुभूत जगत की वस्तुएँ स्वीय अज्ञान से उत्पन्न होने के कारण मिथ्या ही हैं। जिस कारण शरीर, इन्द्रिय, प्राण, अहंकार आदि मिथ्या है, उसी कारण इन सब से भिन्न नित्य वर्तमान जो प्रशान्त निर्मल अद्वितीय परम ब्रह्म है, वह तुम्हीं हो। २५२

यत्र भ्रान्त्या कल्पितं तद्विवेके
तत्तन्मात्रं नेव तस्माद्विभिन्नम्।
स्वप्ने नष्टं स्वप्नविश्वं विचित्रं
स्वस्माद्भिन्नं किन्तु दृष्टं प्रबोधे ॥ २५३।

भ्रमवश जो वर्तमान वस्तु में अन्य मिथ्यावस्तु की कल्पना की जाती है, सत्य वस्तु के ज्ञान होने पर कल्पित-मिथ्यावस्तु अधिष्ठान स्वरूप सत्य वस्तु में परिणत हो जाती है, वह अधिष्ठान नहीं हो जाता है। (जैसे रस्सी को जब रस्सी के रूप में जान लिया जाता है तो उस रस्सी में देखा गया सर्प रस्सी ही हो जाता है, सर्प नहीं रहता।) स्वप्न में देखा गया विचित्र वस्तु समूह स्वप्न में ही खो जाता है। जागरण के पश्चात द्रष्टा से भिन्न कोई स्वप्न वस्तु क्या देखा जा सकता है?

जातिर्नीति कुल गोत्र दूरगम्
नामरूप गुण दोष वर्जितम्।
देशकालविषयातिवर्ति यद् ब्रह्म
तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥ २५४

जिस ब्रह्म का ब्राह्मणादि जाति, धर्मनीति-समाजनीति आदि विधि निषेध से कोई सम्बन्ध नहीं है; जिसका कुल या गोत्र नहीं है; जिसका कोई नाम, रूप या गुण या दोष नहीं है; देशकाल एवं विषय समूह से परे जो वर्तमान है वह ब्रह्म तुम्हीं हो; ऐसा हृदय में ध्यान करो। २५४

"यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रम वर्णम्
अचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम्।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं
तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥"
मु: उ:, १।१।६

'वह ज्ञानेन्द्रियों के अगोचर, कर्मेन्द्रियों के अविषय, मूलरहित, आकारविहीन एवं चक्षुकर्णादि शून्य को—उस हस्तपद विहीन, विनाशरहित, प्राणिभेद में विविध आकर युक्त, सर्वव्यापी एवं सुसूक्ष्म को—उस अव्यय ब्रह्म को विवेकी व्यक्ति जिस विद्या की सहायता से दर्शन करते हैं, वही ब्रह्मविद्या है।'

यत्परं सकल वाग गोचरं
गोचरं विमल बोधचक्षुषः।
शुद्धचिद्घन मनादि वस्तु यद्
ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥ २५५

सर्ववेदान्त सिद्ध, अविद्या का अतीत, वाक्यादि-सभी इन्द्रियों का अविषय, शुद्ध-बुद्धि का विषय, निर्मल चैतन्य स्वरूप, कार्यकारण रहित, ऐसा जो ब्रह्मवस्तु है वह तुम्हीं हो—ऐसा अन्तर में ध्यान करो। २५५

षड्भिर्ऊर्मिभिरयोगि योगिहृद्भावितं
न करणैर्विभावितम्।
बुद्धयवेद्यमनवद्यमस्ति यद्-ब्रह्म
तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥ २५६

(देह, इन्द्रिय और प्राण के धर्म) जरा-मृत्यु-क्षुधा-पिपासा-शोक-मोह रूप छः तरंग जो ब्रह्म को

दुःखी नहीं कर पाते हैं, योगिजन जिन्हें हृदय में ध्यान करते हैं, जिन्हें इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता है, अशुद्ध बुद्धि में जो प्रकाशित नहीं होता, जो निर्दोष है, वह ब्रह्म तुम्हीं हो. ऐसा अन्तर में ध्यान करो। २५६

भ्रान्तिकल्पित जगत् कलाश्रयं स्वाश्रयं
च सदसद्विलक्षणम्।
निष्कलं निरुपमानवद्धि यद् ब्रह्म
तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥ २५७

भ्रान्ति कल्पित जगत की विभिन्न कल्पनाओं का आश्रय, स्वयं ही स्वयं का आश्रय, स्थूल एवं सूक्ष्म पदार्थ समूह से भिन्न, अवयव शून्य एवं तुलय रहित जो ब्रह्म है वह तुम्हीं हो, ऐसा ध्यान करो। २५७

आश्रय=ब्रह्म निराकार एवं चैतन्य स्वरूप होने के कारण उसका कोई आश्रय होने की सम्भावना नहीं है। श्रुति कहती है. "स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः" छा० उ०, ७।।४।१—'ब्रह्म स्वयं की महिमा मे प्रतिष्ठित है।'

निष्कलम="अपालिपादौ जवना ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृतोत्यकर्णः।" श्वेः उ०, ३।१९

'हस्त के न रहते हुये भी ग्रहण करते हैं, पदविहीन होते हुए भी चलते हैं, चक्षुहीन होते हुये भी सुनते है।'

"न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।" स्वेः उ० 'उसके समान अथवा उससे अधिक श्रेष्ठ कुछ नहीं है,।'

जन्मवृद्धिपरिणत्यपक्षय व्याधि-
नाशनविहीनमव्ययम्।
विश्व सृष्टव्यवविघातकारणं
ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥ २५८

ब्रह्म जन्म, वृद्धि, परिणामप्राप्ति, क्षय, व्याधि, मृत्यु अन्दि सर्वविध विकार वर्जित, अपरिणामी एवं विश्व के सृष्टि स्थिति प्रलय के कारण है। वह ब्रह्म पुम्हीं हो, ऐसा अन्तर में ध्यान करो। २५८

अस्तभेदमन पास्त लक्षणं
निस्तरंग जल राशि निश्चलम्।
नित्यमुक्तमविभक्तमूर्ति यद् ब्रह्म
तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥ २५९

जो ब्रह्म भेदरहित, अपरिणामी. निस्तरंग समुद्र की भाँति शान्त, नित्य मुक्त एवं विभाग-वर्जित है, वह तुम्हीं हो, ऐसा अन्तर में ध्यान करो। २५९

अस्तभेद=जीव, जगत एवं ईश्वर—इन जिविध भेदशून्य।

अनपास्तलक्षण=जिसके लक्षण या स्वरूप का अन्त नहीं होता (तिरोभेत नहीं होता); हमारे सभी प्रत्ययों में जो सद्रूप में प्रकाशित होते हैं।

नित्यमुक्त=भूत, वर्तमान एवं भविष्य किसी काल में जिसका वन्धन नहीं होता है; जो स्वयं को कभी वद्ध अनुभव नहीं करता।

अविभक्तमूर्ति=किसी वस्तु द्वारा जिसमें भेद उत्पन्न नहीं होता है। 'अविभक्त च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम।' गीता १३ : १६

एकमेव सदनेककारणं कारणान्तर-
निरासकारणम्।
कार्य कारण विलक्षणं स्वयं ब्रह्म
तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥ २६०

ब्रह्म सत्स्वरूप है, विचित्र सृष्टि के कारण है, अन्य कारण के निरासकारक है, स्वयं कारण शून्य है, एवं कार्य और कारण (माया तथा तत्कृत सृष्टि) से पृथक है। तुम वही ब्रह्म हो, ऐसा अन्तर में ध्यान करो। २६०

ब्रह्म अनेक कारण ।

'यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिंगाः
सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ।
तथाक्षराद्र विविधाः सौम्य भावाः
प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥'
मु०, २।१।१

जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि से उसके सजातीय सहस्र अग्निकण निर्गत होते हैं, उसी प्रकार हे सौम्य, अक्षर से नाना प्रकार के जीव उद्भूत होकर फिर उसी में लीन हो जाते हैं ।

ब्रह्म अकारण ।

"न तस्य कश्चित् पतिरस्ति लोके
न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम् ।
स कारणं करणाधिपाधिपो
न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ॥"
श्वे: उ० ६।९

'जगत में उसका कोई भी प्रभु नहीं है, और न ही नियन्ता ही है, ऐसा कोई चिह्न भी नहीं है जिसे आश्रित कर उसके सम्बन्ध में अनुमान किया जा सके । वे सबके कारण एवं इन्द्रियाधिपति जीवों के भी अधिपति हैं । इसका कोई उत्पादक अथवा अध्यक्ष भी नहीं है ।'

निर्विकल्पकमनल्पमक्षरं यत्क्षराक्षर-
विलक्षणं परम् ।
नित्यमव्ययसुखं निरञ्जनं ब्रह्म
तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥ २६१

जो ब्रह्म संशय-विपर्यय आदि विकल्प शून्य, अपरिच्छिन्न, हानि रहित, क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ से भिन्न, सर्वोत्तम, अविनाशी, नित्यानन्द स्वरूप एवं अविद्यालेश रहित है, वह तुम्हीं हो, ऐसा ध्यान करो । २६१

"क्षरः सर्वानि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।"
गीता:, १५।१६

"उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।"
गी:, १५।१७

'विकारशील भूत समूह को क्षर कहा जाता है, और भगवान की माया शक्ति को अक्षर पुरुष कहते हैं । इन उभय पुरुषों से अत्यन्त भिन्न पुरुषोत्तम को परमात्मा कहते हैं ।'

यद्विभाति सदनेकथा भ्रमान्नाम
रूप गुण विक्रियात्मना ।
हेमवत्स्वयमविक्रियं सदा ब्रह्म
तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥ २६२

सुवर्ण के विविध विकार हारवलयादि में सुवर्ण जिस प्रकार अविकृत रूप में वर्तमान रहता है, उसी प्रकार जो ब्रह्म स्वयं सदा अविकारी रहकर नाम, रूप, गुण एवं विविध विकार रूप में प्रकाशित होता है, वह ब्रह्म तुम्हीं हो ऐसा हृदय में ध्यान करो । २६२

यच्चकास्त्यनपरं परात्परं प्रत्यगेक
रसमात्मलक्षणम् ।
सत्यचित्सुखमनन्तमव्ययं ब्रह्म
तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥ २६३

जो अद्वितीय, अव्यक्त से भी उत्कृष्ट है, सभी प्राणियों के अन्दर अभिन्न चैतन्य रूप में विद्यमान, आत्मस्वरूप, सच्चिदानंद अनन्त अव्यय ब्रह्म प्रकाशित हो रहा है, वह ब्रह्म तुम्हीं हो ऐसा अपने अन्तःकरण में ध्यान करो । २६३

उच्चगर्थमिगमात्मनि स्वयं भावय
प्रथितयुक्तितभिर्धिया ।
संशयादि रहितं करामलवत तेन
तत्त्वनिगमो भविष्यति ॥ २६४

ऊपर के (दश श्लोकों में) जीव और ब्रह्म का जो एकत्व वर्णन किया गया, उसे अपने अन्तःकरण में प्रसिद्ध वेदानुसारी युक्तियों द्वारा एवं शुद्ध बुद्धि की सहायता से ध्यान करो। (रात दिन) इस प्रकार ध्यान द्वारा हस्तगत जल के विषय में जैसे कोई संशय नहीं रहता है, उसी प्रकार संशयरहित ब्रह्म-साक्षात्कार हो जायेगा। २६४

स्वं बोधमात्रम परिशुद्धतत्त्वं विज्ञाय
सङ्घे नृपवच्च सैन्ये।
तदात्मनैवात्मनि सर्वदा स्थितो
विलापय ब्रह्मणि दृश्यजातम् ॥ २६५

सैन्य दल के मध्य राजा ही जिस प्रकार प्रधान होता है (राजा के निर्देश के बिना जिस प्रकार सैन्य दल को कोई भी कार्य करने की स्वतन्त्रता नहीं हैं) उसी प्रकार देह और इन्द्रियादि के मध्य जीव का नित्य चैतन्य स्वरूप शुद्ध आत्मा का ही एक अद्वितीय नियन्ता जानकर, उस ज्ञान द्वारा शुद्ध आत्म रूप सर्वदा अवस्थित रहकर जड़ पदार्थ समूह को आत्मा में ही लय कर दो। (व्यवहार काल में भी शुद्ध आत्मा व्यतीत जड़ समूह की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है, ऐसी प्रतीती तुम्हीं हो।) २६५

बुद्धौ गुहायां सदसद्विलक्षण ब्रह्मास्ति
सत्यं परमद्वितीयम्।
तदात्मना योऽत्र वसेद्गुहायाँ
पुनर्न तस्याङ्ग गुहा प्रवेशः ॥ २६६

बुद्धि रूप गुहा के अन्दर स्थूल एवं सूक्ष्म से भिन्न परात्पर अद्वितीय अविनाशी ब्रह्म नित्य विराजमान हैं। जो स्वयं को ब्रह्म से अभिन्न जानकर बुद्धि से अवस्थान करता है, उसे पुनः मातृगर्भ में जन्म नहीं लेना पड़ता है।

ब्रह्म सर्वत्र विराजमान होने पर भी बुद्धि में उसका विशेष प्रकाश है। शुद्ध बुद्धि की सहायता से उनको उपलब्ध करना होगा—ऐसा वेद का उपदेश है। बुद्धि में 'मैं' का अभिमान त्याग कर सर्वदा ब्रह्मनिष्ठ होकर जो दिन गुजारते हैं उनका पुनर्जन्म तो होता ही नहीं है, वरन वर्तमान देह में ही वे जीवनमुक्ति लाभ करते हैं।

ज्ञाते वस्तुन्यपि बलवती वासनादिरेषा
कर्ता भोक्ताप्यहमिति दृढा यास्य संसारहेतुः।
प्रत्यग्दृष्टयात्मनि निवसता सापनेया प्रयत्नान्
मुक्तिं प्राहुस्तदिह मुनयो वासनातानवं यत् ॥
२६७

ब्रह्म स्वरूप ज्ञात होने के पश्चात भी 'मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ' इत्यादि दृढ़ बलवती अनादि वासना पूर्ण रूप से विलीन नहीं होना चाहती। यह वासना ही जीव के जन्ममरणादि का कारण है। आत्मनिष्ठ साधक साक्षिस्वरूप में विद्यमान रहकर इस वासना के लेशमात्र को यत्न सहित दूर करते हैं। इस जीवन से वासना के पूर्णक्षय को ही मुनिगण मुक्ति कहते हैं।

"यथा क्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति
तथेतः प्रेत्य भवति।" छा० उ० ३।१४।१

'मनुष्य चूँकि भावरूपी होता है, इस कारण वह जीवितावस्था में जैसा निश्चय सम्पन्न होता है, देहत्याग के बाद भी वही रूप प्राप्त करता है।' प्रत्यग् शब्द का अर्थ है—असत्, जड़ एवं दुखात्मक देह, इन्द्रिय आदि से विपरीत सच्चिदानन्द रूप में जो प्रकाशित होता है वही प्रत्यग् है। अथवा, अपने ज्योति स्वरूप के द्वारा जिसने जड़ समूह को एवं अज्ञानान्धकार को पूर्ण रूप से त्याग दिया है वही प्रत्यग् है।

अहंममेति यो भावो देहाक्षादवनात्मनि।
अध्यासोऽयं निरस्तव्यो विदुषा
स्वात्मनिष्ठया ॥ २६८

देह एवं इन्द्रियादि जड़ पदार्थों में 'मैं और मेरा' बोध ही अध्यास कहलाता है। विद्वान व्यक्ति सर्वदा आत्मस्वरूप में वर्तमान रहकर इस अध्यास को हटाने में यत्नपरायण रहें।

विचार द्वारा आकाश का कोई रंग नहीं है, यह निश्चय करने पर भी आकाश सर्वदा नीला ही प्रतीत होता है। स्वच्छ स्फटिक रक्तवर्ण पुष्प के निकट लाने पर रक्तवर्ण दिखता है; यह जानते हुए भी वह जबतक रक्तवर्ण पुष्प से निकट रहता है तबतक लाल ही दिखता है। जड़ देहादि को आश्रय कर ये प्रत्यगात्मा का प्रकाश उसे जड़ धर्मी ही प्रतीत होता है। अतः जीवन्मुक्ति किस प्रकार सम्भव है? इस शंका का समाधान किया जा रहा है।

ज्ञात्वा स्वं प्रत्यगात्मानं बुद्धितद्वृत्ति साक्षिणम्।
सोऽहमित्येव सद्वृत्त्या नात्म-न्यात्ममतिं जहि ॥ २६९

बुद्धि एवं उसके वृत्ति समूह के प्रकाशक यथार्थ स्वरुप को जानकर (बुद्धि आदि से भिन्न, ऐसा निश्चय कर) वह शुद्ध आत्मा 'मैं' ही हूँ इस प्रकार के यथार्थ ज्ञान रूप-वृत्ति की सहायता से अनात्म समूह में आत्म बुद्धि त्याग करें।

सच्ची श्रद्धा

एक व्यक्ति था, जो बहुत देवताओं को पूजता और बहुत गुरु बनाकर किसी-किसी से कुछ न कुछ पाने की फिराक में रहता।

यह एक गुरु के पास बैठा था, इतने में एक अन्य भक्त आया और बताया, उसने अपने खेत में चार दस-दस हाथ गड्ढे खोदे, किसी में भी पानी न निकला। 'पाँचवां गड्ढा खोदने जा रहा हूँ बताइये पानी निकलेगा या नहीं?'

पहले से बैठा व्यक्ति गुरु के उत्तर देने तक नहीं ठहर सका, आवेश में बोला—"इतने स्थान पर गड्ढे खोदने के स्थान पर यदि एक ही स्थान पर पचास हाथ गहरा गड्ढा खोदते तो इतनी जमीन खराब न होती और पानी भी मिल जाता।"

बात समझदारी की थी सो उसने मान ली। नया कुआँ खोदने के स्थान पर पिछले गड्ढे को ही गहरा करने की बात समझ में आई और सिखावन को क्रियान्वित करने के लिए वापस लौट गया, अब गुरु ने उस चतुर व्यक्ति से कहा—"तुम भी बहुत देवता और गुरुओं की तलाश न करके यदि एक पर ही श्रद्धा जमा लेते तो अच्छा होता।"

मैं युवकों को क्यों प्यार करता हूँ ?

—श्रीरामकृष्ण

मैं कुमार बालकों को इतना प्यार क्यों करता हूँ, जानते हो ? बाल्यावस्था में उनका मन सोलहों आना अपने वस में रहता है। पर बड़े होने पर धीरे-धीरे कई भागों में विभाजित हो जाता है। विवाह होने पर आठ आना स्त्री के पास चला जाता हैं सन्तान होने पर चार आना बच्चों की ओर बँट जाता है, और चार आना माता-पिता, मान-सम्मान और सजधज की ओर रहता है। इसलिए जो लोग छोटी अवस्था में ईश्वरलाभ की चेष्टा करते हैं, वे सहज ही में सफल हो जाते हैं। बूढ़ों के लिए सफलता पाना बड़ी कठिन समस्या हो जाती है।

आम, अमरूद इत्यादि के केवल साबूत फल ही ठाकुर जी के भोग में लग सकते हैं। कौए आदि के द्वारा काटा हुआ दागी फल न तो देव-पूजा में आ सकता है और न ब्राह्मण अपने कार्य में ही ला सकता है। इसी प्रकार, पवित्र हृदय बालकों या युवा पुरुषों को धर्म-पथ पर लाने की चेष्टा करना उचित हैं जिस पुरुष के हृदय में एक बार भी विषय-बुद्धि प्रवेश कर गयी है, उसका धर्म-पथ पर चलना बड़ा ही कठिन हो जाता है।

तोते के गले में कण्ठी निकल जाने पर उसे फिर और नहीं पढ़ाया जा सकता। जब तक वह बच्चा रहता है, केवल तभी तक वह जो चाहो, पढ़ना सीख सकता है। इसी प्रकार, बूढ़े का मन सहज ही ईश्वर की ओर नहीं जाता, पर बाल्यावस्था में थोड़ी-सी चेष्टा से ही मन स्थिर रहता है।

एक सेर दूध में यदि केवल एक छटाँक पानी मिला हो, तो थोड़ी आँच में ही खोआ बनाया जा सकता है; परन्तु एक सेर में यदि तीन पाव पानी हो, तो आसानी से खोआ नहीं बन सकता, बहुत लकड़ी और आँच की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार, बालक के मन में विषय-वासना बिल्कुल कम होने के कारण उसका मन ईश्वर की ओर सरलतापूर्वक ढल जाता है। परन्तु बूढ़ों के मन में विषय-वासना खूब ठूस-ठूँ कर भरी रहने के कारण उनका मन ईश्वर की ओर नहीं जा सकता।

जैसे कच्चा बाँस आसानी से झुकाया जा सकता है और पक्का बाँस झुकाये जाने पर टूट जाता है, वैसे ही बच्चों का मन आसानी से ईश्वर की ओर झुकाया जा सकता है परन्तु बूढ़ों के मन को यदि उस ओर झुकाने का प्रयत्न किया जाय, तो वे उस सत्संग को त्याग देते हैं।

मैं इन सब युवकों को नारायण स्वरूप ही मानता हूँ। नरेन्द्र (बाद में स्वामी विवेकानन्द) के साथ मेरी पहली मुलाकात में ही मैंने उसे देह के प्रति सर्वथा उदासीन पाया। कभी-कभी मैं अकेले बैठकर नरेन को देखने के लिए रोया करता था।

युवकों का मन अभी भी संसार से कलुषित नहीं हुआ है, इसीलिए वे हृदय से इतने पवित्र हैं। इसके अलावा उनमें से कई नित्य मुक्त है, जन्म से ही वे भगवान् की ओर आकर्षित हुए हैं। यह मानों एक बगीचे में सफाई करते समय अचानक पानी के फौवारे को पाने के समान है। बिना प्रयत्न के ही जल उमड़ पड़ता है।

जानते हो, ये युवक कैसे हैं ? वे उन वृक्षों के समान है जो पहले फल देते हैं, बाद में फूल। इन युवकों को पहले भगवान का दर्शन हुआ है, बाद में वे उनकी महिमा सुनते हैं; और अन्त में उनमें विलीन हो जाते हैं।

एक अपील

रामकृष्ण मठ
पो०-बेलुड़ मठ, जिला-हावड़ा
(प० बंगाल) ७११ २०२

जैसा कि आप में से अधिकांश लोग जानते हैं कि विश्वव्यापी रामकृष्ण भावधारा के संस्थापकों की पवित्र स्मृतियों के संरक्षणार्थ बेलुड़ मठ में एक संग्रहालय की स्थापना की गयी है, जिसका उद्घाटन १३ मई, १९९४ ई० को संघाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्दजी के हाथों सम्पन्न हुआ था।

श्रीरामकृष्ण, माँ सारदादेवी, स्वामी विवेकानन्द तथा श्रीरामकृष्ण के अन्य शिष्यों द्वारा उपयोग में लाये गये वस्त्र, पादुकाएँ तथा अन्य वस्तुएँ, उनके द्वारा लिखित पत्र और उनके द्वारा पढ़ी गयी पुस्तकों आदि को संग्रहालय में प्रदर्शित किया गया है। संग्रहालय में संलग्न अत्याधुनिक पुराभिलेखागार में उपर्युक्त वस्तुओं को आधुनिकतम तकनीक की सहायता से संरक्षित किया जाता है। हमें आपको यह भी सूचित करते हुए हर्ष हो रहा है कि विगत ४ फरवरी, १९९६ को पूज्य संघाध्यक्ष महाराज ने एक नयी तकनीकी दृष्टि से नियोजित, विशाल संग्रहालय तथा पुराभिलेखागार भवन की आधारशिला रखी।

वैसे अनेक व्यक्ति तथा संस्थाएँ अपने पास पड़ी ऐसी वस्तुएँ हमें दे रहे हैं, तथापि हम एक बार पुनः अपने भक्तों, संस्थाओं तथा जनसाधारण से यह अपील करते हैं कि वे अपने पास पड़ी इस तरह की किसी भी स्मरणीय वस्तु को बेलुड़ मठ के ट्रस्टियों अथवा अपने निकट स्थित हमारे किसी भी शाखाकेन्द्र को सौंप दे। हम एक बार पुनः दुहराते हैं कि यदि ये वस्तुएं वैज्ञानिक पद्धति से संरक्षित नहीं की गयीं, तो वे समय के आघात को नहीं झेल सकेंगी और सदा के लिए दुनिया से विलुप्त हो जायेंगी। हम आपके हार्दिक सहयोग की अपेक्षा करते हैं और हम इसके लिए आपका चिर आभारी रहेंगे।

पुराभिलेखागार के कार्य, प्रस्तावित भवन का मॉडल तथा प्रदर्शित वस्तुओं के नमूनों के आधार पर बनायी गयी १५ मिनट का एक वीडियो कैसेट बिक्रय के लिए उपलब्ध है जिसे रामकृष्ण संग्रहालय, बेलुड़ मठ और हमारे कुछ भारतीय तथा विदेश में स्थित केन्द्रों से प्राप्त किया जा सकता है।

१७-६-१९९६

स्वामी आत्मस्थानन्द
महासचिव

संसार में जब आया है तो एक स्मृति छोड़कर जा, वरना पेड़-पत्थर भी तो पैदा तथा नष्ट होते रहते हैं।

—स्वामी विवेकानन्द

जीवन की समस्त लयों के अनुकूल

पी य र ले स

दि पीयरलेस जेनरल फाइनैन्स एण्ड इन्वेस्टमेन्ट कं० लिमिटेड
पीयरलेस भवन
३, एसप्लेनेड ईस्ट, कलकत्ता—७०० ०६९

भारत की वृहत्तम नॉन-बैंकिंग बचत कम्पनी

डाक पंजीयित संख्या—सी० एच० पी०—१४-८३

विश्ववन्द्य स्वामी विवेकानन्दजी की बहुप्रतीक्षित बृहत् जीवनी

युगनायक
विवेकानन्द

तीन खण्डों में

स्वामी गम्भीरानन्दजी द्वारा लिखित
स्वामी विवेकानन्दजी की यह मूल बंगला जीवनी
उनका अत्यन्त प्रामाणिक और अन्तर्दृष्टिसम्पन्न
जीवन-चरित मानी जाती है। सर्वदूर समादृत यह ग्रन्थ अब
हिन्दी-भाषी पाठकों को उपलब्ध हुआ है। हिन्दी में
स्वामी विवेकानन्दजी की बृहत्, प्रमाणभूत जीवनी का
अभाव था, जिसकी पूर्ति इस प्रकाशन से अब
हो गई है।

हर खण्ड करीब डमाई ४०० पृष्ठों का है।

हर खण्ड का मूल्य रु० ५०/- तीन खण्डों का एकत्रित मूल्य रु० १२०/-

प्रकाशक :

रामकृष्ण मठ

(प्रकाशन विभाग), धन्तोली, नागपुर—४४००१२

श्रीमती गंगा देवी, जयप्रकाश नगर, छपरा (बिहार) द्वारा प्रकाशित एवं
शिवशक्ति प्रिन्टर्स, सैदपुर, पटना-४ में मुद्रित।